सोम-सरोवर

सामवेद के पावमान पर्व का स्वाध्याय

लेखक

चमूपति एम० ए०

सांदी १।)

प्रकाशक
श्री चमूपति एम० ए०
मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

फाल्गुन—१९९१

मुद्रक
श्री देवचन्द्र विशारद
हिन्दी भवन प्रेस,
लाहौर

विषय-सूची

भेंट

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सदस्यों की सेवा में

दिवंगत श्री स्वा० श्रद्धानन्द जी द्वारा संस्थापित गुरुकुल के आप सहायक हैं। इस नाते हम और आप एक परिवार के सदस्य हैं। छः वर्षों से इस परिवार ने "स्वाध्याय-मंजरी" द्वारा एक पारिवारिक सत्संग की स्थापना कर रखी है। गत पाँच वर्षों में इस मंजरी के पाँच पुष्प विकसित हो कर स्वाध्याय-शीलों के हृदय-मन्दिरों को सुगन्धित तथा सुशोभित कर चुके हैं। इस वर्ष इस मंजरी में एक छुटा फूल खिला है, सो आप के कर-कमलों में समर्पित है। यह फूल अपने आप में मनोहर हो न हो, इस की शोभा को आप उस प्रेम से आँकिये जिस से यह आप की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। इस वर्ष के सत्संगों को इस फूल की सुगन्धि से महकाइये। श्रद्धानन्द के परिवार की शोभा वेद के स्वाध्याय के सिवाय और किस आभूषण से हो सकती है?

आप का परिवार-बन्धु—

गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता

ओ३म्

भूमिका

सामवेद का पूर्वार्चिक चार पर्वों में विभक्त है—एक अग्नेय पर्व, दूसरा ऐन्द्र पर्व, तीसरा पावमान पर्व, चौथा आरण्य पर्व। प्रस्तुत पुस्तक पावमान पर्व का, जिसका देवता पवमान सोम है, परिशीलन है। आलंकारिक भाषा में इसे सोम-सरोवर का स्नान कह सकते हैं।

सोम देवता का स्वरूप

सोम क्या है ? पौराणिक भाष्यकारों की सम्मति में वह एक बूटी ही है। वास्तव में सोम एक बूटी का नाम तो है ही परन्तु प्रकरणों के देखने से पता लगता है कि वेद का सोम बूटी के सिवाय कुछ और भी है। वेद स्वयं कहता है:—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सं पिंशन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥

अथर्व. १४.१.३

पीने वाला उस को सोम समझता है जिसे लोग ओषधि के रूप में पीसते हैं। जिसे ब्राह्मण सोम समझते हैं, साधारण मनुष्य उस के (रहस्य) को नहीं पाता।

जैसे हम ऊपर कह चुके हैं, हमारी इस पुस्तक का विषय सम्पूर्ण वेद में कहा गया सोम देवता नहीं, किन्तु सामवेद के

पावमान पर्व द्वारा कीर्तित सोम ही है। यहाँ हम इस पर्व में प्रयुक्त हुए कुछेक विशेषणों का संकलन कर, उन के आधार पर यह निर्णय करने का यत्न करेंगे कि उन विशेषणों का विशेष्य सोम क्या वस्तु है ?

इस पर्व में अनेक स्थलों पर सोम को सम्बोधित किया गया है। कहीं वह 'इन्दु' है, कहीं 'पवमान'। भक्त भक्ति-भाव में भीज-भीज कर अपने इष्ट देव को पुकार रहा है। उस से कृपा की, करुणा की, आश्रय की याचना करता है। धन-धान्य, सुख-सम्पत्ति, सद्गुण-सदाचार, सुगति-सुमति—सार यह कि सभी वाञ्छनीय वस्तुएँ उसे सोम की कृपा से ही प्राप्त करने की आशा दीख रही है।

बुद्धि-जनक मद

सोम एक रस है जो मद लाता है। उस का सवन होता है। पान करने वाले को वह रस उदार तथा वीर बनाता है। सोम की यह गुणावली हम अपने नहीं, स्वयं वेद के ही शब्दों में उपस्थित करेंगे, जिस से सम्भवतः सोम का स्वरूप निश्चित करने में अधिक सहायता प्राप्त हो सके।

सोम की मादकता का वर्णन पावमान पर्व के आरम्भ से ले कर अन्त तक निरन्तर होता चला गया है। दूसरे ही मन्त्र में कहा है:—

२ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥१.२

हे सोम ! तू अत्यन्त रसीली, अत्यन्त नशीली धार के रूप में प्रवाहित हो। [जीव-जात को] पवित्र कर। तेरा जन्म इसलिए हुआ है कि [मैं] इन्द्रियों का राजा तेरा पान करूँ।

तीसरे मन्त्र में फिर कहते हैं:—

मरुत्वते च मत्सरः । १.३

प्राण-शक्ति के धनी के लिए [तू] हर्ष का सरोवर है।

चौथे मन्त्र में फिर यही भाव दोहराया जा रहा है :—

यस्ते मदो वरेण्यः ।१.४

तेरा जो ग्रहण करने लायक़ नशा है।

इस प्रकार के वर्णन सम्पूर्ण पर्व में भरे पड़े हैं। तो क्या सोम एक मादक द्रव्य है ? आयुर्वेद की परिभाषा में मादक द्रव्य का लक्षण यह है कि:—

बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारी तदुच्यते ।

शार्ङ्गधर ४. २१

जो पदार्थ बुद्धि को लुप्त कर दे, उसे मादक द्रव्य कहते हैं।

यदि सोम-पान का प्रभाव भी यही होता हो तो उसे भी वैद्यक के उपर्युक्त लक्षणानुसार एक मादक द्रव्य ही कहना चाहिये। परन्तु वेद में तो केवल यही नहीं कि सोम को मति-लुम्पक नहीं कहा गया, किन्तु इस के विपरीत उसे मति-जनक, मति-प्रेरक कहा गया है। उदाहरण-रूप में सोम-पर्व के निम्न-लिखित स्थल विचार करने योग्य हैं:—

जनिता मतीनाम् ।६.५

बुद्धियों को जन्म देने वाला।

अतो मतिं जनयत । ६.८

इस से बुद्धि पैदा करो ।

इन्दवः सनिपन्तु नो धियः । ९.२

सोम-रस हमें बुद्धि प्रदान करे ।

प्र मनीषा ईरते सोममच्छ । ७.१२

बुद्धियाँ सोम की ओर बढ़ रही हैं ।

वृषा मतीनाम् । ९.६

सद्बुद्धियों की वृष्टि करने वाला ।

इस प्रकार के प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सोम-रस मादक है भी और नहीं भी । यह मद तो लाता है परन्तु इस का मद बुद्धि-नाशक नहीं होता । यदि सोम-रस एक नशा भी हो तो वह कम से कम इसलिए निषिद्ध न होगा कि भंग, शराब, गांजा, चरस आदि की तरह उस के प्रयोग से मनुष्य पागल बन जाय । सोम का प्रभाव इन नशों के ठीक विपरीत है । सोम सुमति प्रदान करता है । अन्तःकरण की सोई हुई शक्तियों को उलटा जगा देता है ।

यही नहीं, वेद तो इस से भी आगे बढ़ा है । इसी पर्व के खंड २. मं०५ में सोम को स्वयं "चेतन" कहा गया है । इस से सोम कोई जड़ प्राकृतिक वस्तु न रह कर चिति-शक्ति से सम्पन्न कोई आध्यात्मिक पदार्थ सिद्ध हो रहा है । आगे चल कर इसे कुछ और भी आश्चर्य-जनक विशेषण दिये गये हैं ।

विचर्षणिः (३.२) विशेष रूप से देखने वाला ।

विप्रः (५.९) मेधावी ।

अंगिरस्तमः (५.९) उत्तम कोटि का विद्वान् ।

विचक्षणः (९.१) प्रवीण ।

स्वर्विद् (८.४) आत्म-वेत्ता ।

कविः (२.१०) क्रान्तदर्शी ।

क्रतुवित् (३.६) कर्त्तव्य का जानने वाला ।

क्रतुवित्तमो मदः (११.१) पूर्ण कर्त्तव्य-ज्ञापक नशा ।

गातुवित्तमः (८.४)रास्ते का पूरा जानकार,उत्तम मार्ग-दर्शक।

ऋतंभरा प्रज्ञा

सामान्य नशे कर्त्तव्य के पथ से डिगाते तो हैं उस पर चलाते नहीं, चलने में दृढ़ नहीं करते। इस रास्ते का ज्ञान करा उस पर पूरा दृढ़ रखने वाला नशा केवल वेद-कीर्तित सोम ही है। ५.४ में उसे "जागृविः"—जागरूक कहा है। सामान्य जागृति सोम की जागृति के सम्मुख निद्रा है। ऊपर उसे स्वर्दृक्—आत्मदर्शी तो कहा ही था, आगे कहते हैं:—

योनिमृतस्य सीदसि । ५.१

वस्तु-सत्ता के मूल पर आसीन है।

वेद में ऋत और सत्य—इन दो शब्दों का प्रयोग परस्पर भिन्न अर्थों में हुआ है। सत्य उन भौतिक तथा मानसिक सचाइयों का नाम है जिन का ज्ञान हमें आँख, कान, तथा बुद्धि आदि वाह्य और आन्तरिक करणों द्वारा होता है। इन्हें हम दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सचाइयाँ कह सकते हैं। ऋत वह आध्यात्मिक तत्त्व है जो इन भौतिक सचाइयों का मूल है। उस का प्रत्यक्ष योगी को

योग-चक्षु द्वारा होता है। योग दर्शन में सिद्ध पुरुष की बुद्धि को "ऋतम्भरा प्रज्ञा" कहा है। वेद सोम को "ऋतावा" (६.१०)—ऋतवान् कहता है। यही नहीं, एक और स्थल पर कहा है:—

ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् (ईरयति)।६.३

ऋत को धारण करने वाली ब्रह्म-बुद्धि को प्रेरित करता है।

इन स्थलों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जहाँ सांसारिक नशे सामान्य बुद्धि तक को विलुप्त कर देते हैं, वहाँ यदि ऐसी प्रज्ञा प्रसुप्त भी हो तो सोम उस प्रज्ञा को जगा देने के अतिरिक्त एक और चरम चक्षु पैदा कर देता है, जिस की दृष्टि इस भौतिक ब्रह्माण्ड से परे किसी ऐसे तत्त्व को जा देखती है जो "स्वः" है, "ऋत" है। योगियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा इसी सोम की देन है। कवि, विपश्चित्, विचक्षण, स्वर्वित् आदि विशेषण इस बुद्धि तथा बुद्धि से युक्त किसी "चेतन" पर पूरे चरितार्थ हो जाते हैं। यह बुद्धि नशा लाती है। सच है, योगी जनों जैसा मस्ताना और कौन हो सकता है? गुरु नानक का यह वचन खूब प्रसिद्ध है:—

नाम-खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात।

अनाहत नाद

९.१० में "इन्दवः" का विशेषण है "वचनवन्तः"।

अन्यत्र कहा है:—

समुद्रे वाचमिन्वसि।५.७

[इन्दव-] समुद्र में शब्द पैदा करता है।

निवक्ति । ६.२

कहता है ।

रेभन् । ६.२

शब्द करता हुआ ।

तिस्रो वाच उदीरते ।१.५

तीन ध्वनियां उठ रही हैं ।

तिस्रो वाच ईरयति । ६.३

तीन ध्वनियां उठाता हैं।

ये तीन वाणियां "ओ३म्" की तीन मात्राएँ हैं । सोम इस का जाप कराता है । हृदय-समुद्र से ध्वनि को उठा कर चारों ओर उस की पवित्र गुंजार सी पैदा कर देता है । वेद ने इस चमत्कार-पूर्ण दशा का वड़ा सुन्दर चित्र खेंचा है:—

तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥१.५

तीन ध्वनियां उठ रही हैं । मानो दुधेल गायें बछड़ों को बुला रही हैं । चित-चोर गरजता हुआ आ रहा है ।

यह स्पष्ट अनाहत नाद का समा बाँधा गया है । अजपे जाप की मुँह बोलती तस्वीर खेंची गई है । योगी जनों की ऋतम्भरा प्रज्ञा इस अलौकिक नाद से खूब परिचित है ।

आचार का आधार

सांसारिक नशे आचार-नाशक होते हैं । परन्तु सोम-रस से प्रार्थना की जाती है कि:—

विश्वा अप द्विषो जहि । २.३

सब द्वेषों को नष्ट कर दे ।

फिर कहा है:—

हिन्वान आप्यं बृहत् ।४.१२

महान् बन्धुत्व की प्रेरणा करता हुआ ।

३ १ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २
अपघ्नन्पवते मृधोऽपसोमो अराव्णः ।४.१४

सोम अपनी पवित्रता से हिंसाओं तथा कृपणताओं को दूर कर देता है ।

अतिह्वरांसि (पवते) ।१०.११

कुटिलताओं का [अपनी पवित्रता द्वारा] नाश कर रहा है।

८.४ में "सोमाः" के विशेषण हैं—"मित्राः" अर्थात् स्नेही और "अरेपसः" अर्थात् पाप-रहित। ५.६ में सोम को "बभ्रो" कहा गया है—अर्थात् मटियाला, धूलि-धूसर। यह रंग किसी तपस्वी तितिक्षु का है। सोम को इस नाम से सम्बोधित कर कहा गया है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २र ३ २उ ३ १ २
पुरूणि बभ्रो निचरन्ति मामव परिधीँ रति ताँ इहि।५.६

अनेक (बुरी प्रवृत्तियाँ) मुझे नीचे ले जाती हैं तुम उन बाधाओं को पार कर जाओ।

यह पुकार सांसारिक नशों के प्रति नहीं की जा सकती। साधक अपनी आत्मा को जगा रहा है। उस के तपस्वी रूप का एक लाक्षणिक चित्र सा अपनी आँखों के सामने लाता है और उस की आराधना द्वारा पतन से बचाव का उपाय

करता है। सोम-रस का पुतला आर्य सेनापति दिग्विजय प्राप्त कर अपने सैनिक मित्रों से कहता है—

पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे ।
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम् ॥८.१

सभी जीवन-प्रद पदार्थ तुम्हारे सामने जीते रखे हैं। ऐ मित्रो ! अब इस लिए कि तुम्हें तुम्हारा यज्ञ आनन्द दे, [लालच के] लंबी जीभ वाले कुत्ते को हटा कर ढीला छोड़ दो।

मैत्री, मुदिता, उपेक्षा का अभ्यास जिस रस के पान का फल हो वह और कुछ हो तो हो, जगत् के भौतिक नशों जैसा कोई पदार्थ नहीं हो सकता। जिस खुमार के चढ़ते ही वैर, विरोध भाग जाते हैं, लोभ तथा मोह काफ़ूर हो जाते हैं, नैतिक पतन की संभावना ही नहीं रहती, एक व्यापक बन्धुत्व की अनुभूति होने लगती है, वह अवश्य "नाम-खुमारी" जैसा ही कोई आध्यात्मिक मद है।

क्रान्तिकारी सन्त

अब तक हम ने सोम का वर्णन एक दशा अथवा रस के रूप में किया है। जिस मनुष्य ने इस रस का खूब आस्वादन किया हो, जो इस की मस्ती में झूम-झूम कर रस-स्वरूप बन गया हो, वेद उसे भी सोम कहता है। ऐसा मनुष्य सोम-रस का पुतला है। उस का आचार तथा विचार सब सोम के रंग में रँगा हुआ है। उस का सम्पूर्ण जीवन सोम-रस द्वारा आप्लावित है, शराबोर है। सोम

अपनी सारी जायदाद अपने हाथ ही में ले ले। सच तो यह है कि जिसे आध्यात्मिक रस प्राप्त हो गया, वह रंक भी राजा है। सोम लाख ऐश्वर्यों का एक ऐश्वर्य है। सन्त की एक-मात्र सम्पत्ति सोम ही है। अन्य संपत्तियाँ उस की सुधारणा के संग्राम में बाधक हैं। एक यही सम्पत्ति साधक है, सहायक है। सन्त को केवल धर्म-धन का सहारा है।

कलश आदि

हम ने ऊपर उन प्रमाणों का संकलन किया है जिन से सोम एक भौतिक नशा नहीं, किन्तु एक अलौकिक आध्यात्मिक रस ही सिद्ध होता है। सामवेद के इसी पावमान पर्व में ही कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जिन का सम्बन्ध साधारण दृष्टि से देखने पर, उन्हीं सांसारिक आसवों से ही प्रतीत होता है। वे ऐसे उपकरणों के नाम हैं जिन का प्रयोग किसी द्रव पदार्थ के सवन, संचय तथा संशोधन में किया जाता है। उदाहरणतया :—

आविशन् कलशम् ।३.३

कलश को आविष्ट करता हुआ।

पवित्रे चम्वोः सुतः ।३.४

कटोरों में पैदा हुआ सोम-रस चलनी में [उतरता है]।

१ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १ ३ १ २
अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोम पवित्र आनय ।४.३

ऐ अहिंसा-व्रत के इच्छुक! मेघों, पर्वतों तथा ऋषियों की वाणियों द्वारा उत्पन्न हुए सोम रस को चलनी में ले आ।

अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह ।९.१०

घी से भरे, काठ के कलशों में उतर ।

कलश, पवित्र, चमू, अद्रि और द्रोण—इन उपकरणों का सम्बन्ध स्पष्टतया किसी भौतिक द्रव से ही हो सकता है। परन्तु जब आध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन रस-रूप में किया जायगा तो उस के साथ, रसों से सम्बन्ध रखने वाले उपकरणों की ओर संकेत होना स्वाभाविक ही है। हां! वह संकेत होगा लाक्षणिक ही। जैसे "कलश" के साथ "आविशन्" क्रिया का प्रयोग हुआ है, परन्तु आविष्ट कलश नहीं, हृदय होता है। इसी पर्व में अन्यत्र इसी क्रिया का प्रयोग हृदय के साथ हुआ भी है, यथा :—

इन्द्रस्य हार्द्याविशन् ।९.९

इन्द्र के हृदय को आविष्ट करता हुआ।

इस प्रकार कलश की पहेली तो वेद ने स्वयं बुझा दी है। कलश हृदय ही है। भक्ति-रस का सवन हृदय के सिवाय और कहां हो सकता है? "कलश" शब्द की व्युत्पत्ति भी इस अर्थ की पोषक प्रतीत होती है। वाचस्पत्य कोष में इस शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है— "कलं मधुराव्यक्तं ध्वनिं शवति"—अर्थात् जो मधुर अव्यक्त शब्द करे वह कलश है। भक्त का हृदय सदा मीठा-मीठा अव्यक्त-सा शब्द करता ही रहता है। उस में अजपे जाप की क्रिया हर समय जारी रहती है।

अव "पवित्र" शब्द को लीजिये। वेद स्वयं कहता है :—

ब्रह्म कवच

सन्त अपने आप को परमेश्वर के हाथ में सुरक्षित समझते हैं। उन्हें एक कवच सा मिल जाता है जिस की ओट में आ कर वे सव प्रकार की आपत्तियों से निश्चिन्त हो जाते हैं। सोम का

उग्रं शर्म ।१.१

उग्र सुख पूर्ण सहारा (है)।

जिस ने

विश्वा दधान ओजसा ।१.२

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को अपने वल द्वारा धारण कर रखा है।

उन के हाथ में सन्त सुरक्षित क्यों न हो? सन्त भी तो उस ब्रह्माण्ड का एक अंग ही है। वह

दक्षः (१.७) वल-स्वरूप कुशल,
दक्षसाधनः (१.८) वल का साधन,
दक्षं मयोभुवम् (४.२) सुखस्वरूप वल,
वाजसातमः (५.११) अधिक से अधिक वल देने वाला,
भुवनस्य गोपा (६.७) भूतजात का रक्षक है।

इसी सर्वाधार सर्व-रक्षक के सहारे सन्त सारे संसार से लड़ाई ठान लेता है। वह कौन सा विरोध है जिस को सामाजिक तथा नैतिक सुधारणा के काम में उसे सहन करना नहीं पड़ता? सुधारक सव ओर से विपत्तियों में घिरा हुआ, तलवारों के वारों में, पत्थरों की बौछाड़ों में, हालाहल विष के प्रयोगों में, छिपे षड्यन्त्रों और खुले संग्रामों में अपने समर्पित जीवन को मानो किसी अलौकिक जादू के सहारे

सुरक्षित लिये फिरता है। उस का जादू वही "ब्रह्मवर्म्म ममान्तरम्" ही है। उसे वेद ही का उपदेश है:—

वर्मीव धृष्णवारुज। ११.८

ऐ [राक्षसों को] दबाने वाले! कवच पहिन योद्धा की तरह राक्षसों की सेना का नाश कर।

लाख धनों का एक धन

भक्त का धन उस की भक्ति है। उसे जो रस भगवदाराधन में मिलता है, उस का एक शतांश भी तो कुबेर के कोषों में नहीं प्रतीत होता। वह अपने सोम-रस ही के विषय में कहता है:—

(वि) दयते वार्याणि। ६.६

वरणीय वस्तुयें प्रदान करता है।

सहस्रदाः शतदा भूरिदावा। ६.१

सैंकड़ों का, हज़ारों का, इस से भी अधिक का दान करने वाला है।

जब से यह बहुमूल्य धन भक्त के हाथ आया है, उस ने अन्य सब सम्पत्तियों को तुच्छ समझ लिया है। वह सांसारिक संपत्तियों का संग्रह करने लगे तो प्रभु-भक्ति के अनमोल रत्नों का अनादर करे। प्रभु में पूर्ण विश्वास का तो अर्थ ही यही है कि उस की कृपा ही को अपना एक-मात्र आश्रय मानें। धन प्रभु का है तो फिर वह तो प्रभु देगा ही। तू प्रभु को ही गांठ बाँध। मराठा सैनिकों की तरह।

विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥७.४

सम्पूर्ण जीवन-सामग्री हाथों में लिये हुए।

वह मन्त्र है जो स्वयं विप्लव की मूर्ति है। उस का मनन, उस का कथन, उस का आचरण संसार में विप्लव का कारण हो रहा है। उस मस्ताने की चाल का स्वयं वेद ने बड़ी सजीव, बड़ी हृदयङ्गम भाषा में चित्रण किया है :—

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१र २र
तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
३ २ ३ १ २
तरत् स मन्दी धावति ॥४.४।

प्राण प्रद सोम-रस की धारा से मस्त हुआ वह मस्ताना तैरता सा दौड़ता है। वह मस्ताना तैरता सा दौड़ता है।

३ १र २ र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
समुद्रस्याधिविष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥५.८

मन का संयम करने वाले, मद टपका रहे, मस्ती के सरोवर, आध्यात्मिक संजीवन के चलते फिरते स्रोत समुद्र की चोटी पर खड़े हर्षकारी मस्ती का सब ओर से प्रवाह ला रहे हैं।

हिन्वानो मानुषीरपः । २.७

मानव प्रजाओं को प्रेरित करता हुआ।

यह विशेषण किसी ऐसे क्रान्तिकारी महापुरुष का प्रतीत होता है जो मानवीय इतिहास में विचार तथा आचार का एक नया युग ला रहा है। इतिहास में सुधारणा के ऐसे काल अनगिन्त हुए हैं। प्रत्येक जाति में सन्तों ने जन्म ले-ले कर उस की बार-बार काया-पलट की है। वेद के सार-गर्भित शब्दों में :—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
अनुप्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः ।
३ १ २ ।३ २
रुचे जनन्त सूर्यम् ।।४.६

पुरानी लकीर के फ़कीरों ने नया पग उठाया । प्रकाश के लिए उन्हों ने नया सूर्य पैदा कर लिया ।

इस प्रकार के सोम का एक विशेषण "वृषा" है । साहित्य में "वृष" का अर्थ है धर्म । योग दर्शन की एक परिभाषा धर्म-मेघ है जिस का अर्थ वह सिद्धि है जिसे प्राप्त हो कर सिद्ध संसार में साधना की एक बाढ़ सी ला देता है । सिद्ध सदाचार का प्रचारक होता है । मानव जाति में प्रचलित बुरी प्रथाओं का खण्डन कर धर्म के मूल-भूत सिद्धान्तों की स्थापना करता है । वेद में कहा है:—

वृषा धर्माणि दध्रिषे । ४.८

तुम धर्म-मेघ हो कर धर्म के तत्त्वों की रक्षा करते हो ।

धर्म के मूल-भूत सिद्धान्त समूचे मानव समाज के एक हैं । उन्हीं को सूत्र बना कर संसार की समूची जातियों को एक ही माला के मोती, प्रभु-भक्ति की एक ही सुमरनी के मनके बनाया जा सकता है । धार्मिक सुधारणा के जन्म-दाता प्रत्येक देश में विश्व-व्यापक बन्धुत्व का ही सूत्र-पात करते रहे हैं । वेद किसी ऐसे "सोम" के विषय में कहता है :—

हिन्वान आप्यं बृहत् । ४.१२

महान् बन्धुत्व की प्रेरणा करता हुआ ।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ।९.१२

हे ब्रह्माण्ड के पति ! तेरी चलनी सब ओर फैल रही है—व्यापक हो रही है ।

यहां "पवित्र" "ब्रह्मणस्पति" का है और "वितत" अर्थात व्यापक है। इस मन्त्र का देवता "पवमान सोम" है। इस में ब्रह्मणस्पति को सम्बोधन किया गया है। इस लिए यह सोम का ही दूसरा नाम है। यहां "पवित्र" शब्द का प्रयोग औपचारिक ही हुआ है—इस बात की सिद्धि उपर्युक्त मन्त्र के शब्दों ही से हो जाती है। अन्यत्र भी "पवित्र" शब्द का प्रयोग लाक्षणिक समझना चाहिए। आन्तरिक जगत में मनुष्य का हृदय, और बाहर संम्पूर्ण विश्व, प्रभु के सोम-रस का पवित्र-सा—चलनी-सा—बन रहा है। ब्रह्मणस्पति का "वितत पवित्र" सम्पूर्ण विश्व है।

"चमू" कटोरे को कहते हैं, परन्तु सोम के कटोरे तो विशाल द्यौः और विस्तृत पृथिवी हैं। निघण्टु ३.३० में "चम्वौ" का अर्थ द्यावापृथिवी किया गया है।

"अद्रि" शब्द निघण्टु १.१० में मेघ-वाची पदों में परिगणित है। सोम अद्रियों से पैदा होता है। एक स्थान पर (९.७) स्वयं सोम को "अद्रि" कहा गया है। इस संकेत को ध्यान में रखते हुए हम "अद्रि" शब्द का अर्थ धर्म-मेघ करेंगे; क्योंकि आखिर पत्थर तो सोम को कूटने पीसने का काम ही दे जाय तो दे जाय, वह स्वयं सोम नहीं बन सकता। और मेघ जहां रस का स्रोत है, वहां

स्वयं भक्ति-रस को मेघ के रूप में वर्णित भी किया जाता है।

भक्तो ! हृदय-गगन में छाई, भक्ति-भाव घन-माला।

द्रोण और कलश एक ही चीज़ हैं। द्रोण दारुमय है, वह सूखा काठ है। बहुवचन हो तो इन्द्रियां और एक-वचन हो तो मन द्रोण है। सोम इन सूखे काठों को खूब सरस कर देता है।

सोम शब्द के साथ प्रयोग तो धारा, ऊर्मि, आपः, सिंचन, सवन इत्यादि पदों तथा क्रियाओं का भी हुआ है; परन्तु जैसे हम ऊपर कह चुके हैं, सोम के ये विशेषण स्वाभाविक हैं। जब किसी भावना का वर्णन रस के रूप में किया जायगा तो उस की तरंगें भी होंगी, उस के विप्लव भी आयेंगे, वह उमड़ेगी भी, उस का "सवन" तथा "पवन" सब कुछ होगा। हम पाठकों की रसिकता का इतना अनादर नहीं करना चाहते कि उन के सम्मुख आध्यात्मिक अनु-भूतियों के साथ इन विशेषणों तथा क्रियाओं की संगति भी सिद्ध करने बैठें।

"अंशु" शब्द कोंपल के अर्थ में भी आता है, "किरण" के अर्थ में भी। दोनों अर्थों में सोम के लिए इस का प्रयोग लाक्षणिक है। भक्त के हृदय में सोम के आविर्भाव को मरुस्थलों में कोंपल का फूटना भी कहा जा सकता है, निबिड़ अन्धकार में किरण का प्रकाश भी।

त्वं ह्यंग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युमत्तमः ।
अमृतत्वाय घोषयन् ॥११.६

हे मेरे अंग ! हे पवित्रता लाने वाले रस ! तू ही तो अत्यन्त प्रदीप्त हो कर मेरी इन्द्रियों के ज्योतिः पुंज को—मेरे जन्म-जन्मान्तरों को अमर पद की प्राप्ति का नाद सुना रहा है ।

वेद का पावमान पर्व इस प्रकार अपने आप तीन भागों में विभक्त हो गया है. इस सोम-सरोवर में क्रमशः तीन तरंगें उठी हैं। प्रथम छः हिलोरें—आचार्यों ने इन्हें सूक्त अथवा खण्ड कहा है—अद्भुत रस की हैं, दो हिलोरें वीर-रस की, और अन्तिम तीन शान्त-रस की। दूसरे शब्दों में सोम-संजीवनी के ये तीन सवन हैं। ,

अभेदकारी सोम

तीनों सवन नित्य हैं। ये किसी देश विशेष अथवा युग विशेष की वस्तु नहीं हैं। वेद में भूत काल हो, वर्तमान काल हो, भविष्यत काल हो, तीनों कालों का अभिप्राय एक ही सतत-वर्त्तमान, अकाल काल होता है। लोक में भी नित्य सचाइयों का वर्णन तीनों कालों में एक समान करने की प्रथा है। जो करेगा, सो भरेगा; जिस ने किया, उसी ने भरा; जो करता है, सो भरता है—इन तीनों उक्तियों का अर्थ एक ही है। इसी प्रकार "पुरुषों" के विषय में भी। कहीं अपने आप को "तू" कह कर उपदेश दे दिया तो वह "तू" "मैं" हो गया। किसी साधक अथवा सिद्ध की दशा का

"मेरी दशा" कह कर वर्णन कर दिया तो वह साधक की अपनी अभिलषित सिद्धि ही की तीव्र अभिलाषा-मात्र समझनी चाहिये। ऐसे स्थलों पर "मैं", "तू", "वह" पर्याय हैं। इन का अर्थ है साधक। वेद ने जहां समयों को मिला दिया है, वहां व्यक्तियों को भी एक कर दिया है। यही सोम की वास्तविक संजीवनी है—अर्थात् मानव-मात्र का एक दूसरे से अभेद। यज्ञ का—निष्काम प्रेम का—रस सोम है। निष्काम प्रेम होता ही अभेद में है। इस रस के उमड़ते ही भेद-भाव मिट जाते हैं।

पावमान पर्व के ऋषि

यास्क मुनि कहते हैं:—

ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्यदेनाँस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् ते ऋषयोऽभवँस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। निरुक्त २.११

"ऋषि" शब्द दर्शनार्थक धातु से बना है। आचार्य औपमन्यव के मत में ऋषि वह है जिस ने मन्त्रों का दर्शन किया हो। इस में ब्राह्मण का यह वचन प्रमाण है—तपस्या करते हुए इन्हें स्वयम्भू ब्रह्म [अपौरुषेय वेद] का साक्षात्कार हुआ। इस से ये ऋषि हुए। यही ऋषियों का ऋषित्व है

हो गये। मृत-प्राय संस्कृतियों में नई जान-सी आ गई वेद के शब्दों में:—

१ २ ३ २र २ २ ३ १ २
प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना ।७.१

बहादुर सेनापति संपूर्ण भूतल तथा उस की संस्कृतियों की रक्षा के लिए रथियों के आगे-आगे बढ़ा चला जाता है। यह देख कर इस की सेना हर्ष अनुभव करती है।

इस मन्त्र में "गव्यन्" शब्द बहुत सार-गर्भित है। गौ पृथिवी भी है, भाषा भी है, किरण भी। आर्य सेनानी जहां सम्पूर्ण पृथिवी के मानव-मात्र की माता के रूप में देखना चाहता है, इस "गो" के किसी भी अंग का खून वह नहीं होने देगा, वहां संसार भर की संस्कृतियों की रक्षा का बीड़ा भी इसी बांकुरे वीर को उठाना है।

इस अनूठे सेनापति की दिग्विजय का स्वागत दसों दिशाएँ करती हैं। दस दिशाएँ इस की बहनें हैं। सेनानी होने मात्र से इस ने उन की राखी स्वीकार की है। इस की विजय का समाचार सुन कर दसों बहनें इस का अभिषेक करने आई हैं। कहा है:—

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः।
३ १ २ ३ १ र १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥६.५

नित-नोर ने सूर्य की कन्याओं [दस दिशाओं] की प्रदक्षिणा

की है। अपने शीघ्र-गामी घोड़े की तरह वह तुरन्त [उन के] हृदय-कलश में जा पहुँचा है। धीर पुरुष की ये दस बहिनें, प्रेरक सद्बुद्धियां बन कर, उस का एक-साथ अभिषेक कर परिष्कार कर रही हैं।

पर्व के आरम्भ में अद्भुत-रस का प्रयोग किया गया है। भक्त बच्चा है, बछड़ा है। वह विश्व को आश्चर्य की दृष्टि से देखता है। विशेषतया जीवन जो "सोम" है उस के लिए पहेली-सा है। इस आश्चर्य-आश्चर्य में ही उसे माता का स्मरण होता है और वह उस के दर्शन की प्रतीक्षा में बैठता है। पर्व के बीच में एक लहर वीर-रस की आती है और फिर शान्त-रस की वर्षा होने लगती है। अद्भुत, वीर तथा शान्त—इन तीन रसों का मेल बड़ा अपूर्व हुआ है।

वास्तव में सोम अमृत है। ब्राह्मण का अमृत वेदवाणी की संजीवन-संचारिणी वर्षा के रूप में संसार का कल्याण करता है; तो क्षत्रिय का सोम रुधिर के प्रवाहों द्वारा मानव-समाज की सूनी संपत्तियों तथा सूखी संस्कृतियों को फिर से हरा-भरा कर देता है। फल दोनों का अमर पद की प्राप्ति है। अद्भुत तथा वीर दोनों रस परिणामतः शान्त-रस में परिणत हो जाते हैं। ब्राह्मण की वाणी तथा क्षत्रिय की भुजा दोनों ने विश्व-वाटिका को नई हरियाली प्रदान की है। दोनों के जन्म-जन्मान्तर आज अमर हो रहे हैं। उन का सम्पूर्ण ऐन्द्रिय जीवन यज्ञमय हुआ है। उस की मिठास अमर है। दोनों के जीवन सोम-रस में भीज-भीज कर कह रहे हैं:—

"अवि" के "वार"

सोम-रस के इन उपकरणों तथा विशेषणों और प्रक्रियाओं के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर "अवि" के "वारों" का वर्णन आता है। पौराणिक भाष्यकार इन का अर्थ करते हैं—भेड़ के बाल। उन की दृष्टि में यह उस ऊन का वर्णन है, जिस से सोम शुद्ध किया जाता है। ऊन एक पवित्र पदार्थ अवश्य है और सन्तों, साधुओं के खूब काम में आता है। योग-साधन के लिए विशेष ऋतु सर्दी है और जहां झड़ी लगी रहती हो, वहां भक्ति-भाव की भी एक बाढ़ सी आई रहती है। ऐसे प्रदेशों में ऊन का व्यवहार होना स्वाभाविक है। इस पर पानी पड़ गया तो झाड़ दिया और जो धूल पड़ गई तो वह भी झट झाड़ फेंकी। सफाई के लिये अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। ऊन का कपड़ा वनों और पर्वतों पर रहने वाले साधक जनों के तपोमय जीवन का विशेष उपलक्षण है। सूफियों में भी सूफ़—जो ऊन का फारसी पर्याय है—अभ्यासियों का खास पहरावा माना जाता है। परन्तु पावमान पर्व में इस सूफ़ की ओर कोई बहुत दूर का संकेत हो तो हो; "अवि" का अभिप्राय वहाँ वही है जो अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में बताया गया है:—

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥१०.८.३१

अवि नाम की एक देवता है जो ऋत से घिरी हुई है। उसी के रूप द्वारा ये हरे वृक्ष हरी-हरी मालायें-सी पहने खड़े हैं।

यह अवि और कुछ हो तो हो, भेड़ नहीं है। यह वास्तव में वह चिति है जो सभी चेतनों के—सजीव शरीरों के—रंगों-रूपों में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट हो रही है। यह वह भावना है जो रोमांच के रास्ते बाहर आ रही है। "अवि" के "वार" भावनाविष्ट शरीरों के रोंगटे हैं। सोम इन को पार कर जाता है, इन्हें घेर लेता है, इन की चोटियों पर प्रकट हो-हो कर नाचता है। सम्पूर्ण सृष्टि स्रष्टा के दिव्य-स्पर्श से रोमांचित-सी हो रही है। उस का सारा शरीर भक्ति के उद्रेक से आर्द्र हो रहा है। यही सोम है।

सोम का एक नाम "हरि" है। इस शब्द का एक अर्थ है हरे रंग का। सोम का यह नाम सम्भवतः "हरितस्रज" वनस्पतियों के कारण रखा गया है। सायण ने हरि का अर्थ किया है "पापस्य हर्त्ता"। हम इस का अर्थ समझे हैं—हृदयों का हरने वाला—चित-चोर।

तीन रस

यह चित-चोर रस ब्राह्मण के हृदय में छलका तो उस से नैतिक तथा धार्मिक सुधारणा का प्रवाह चल पड़ा। किसी क्षत्रिय की भुजाओं में वह निकला तो उस से दीनों, दलितों की रक्षा हो गई। पीड़ित व्यक्तियों को फिर से सुख-पूर्वक जीने का अवसर मिल गया। पादाक्रान्त राष्ट्र सोम-संजीवनी के संचार से फिर लहलहा उठे, खूब हरे-भरे

अन्यत्र कहा है:—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । ते ऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः । १.२०

जिन्हों ने धर्म का साक्षात्कार किया, वे ऋषि हुए। उन्हों ने अपने से अन्यज्ञ मनुष्यों को, जिन्हें धर्म का साक्षात्कार नहीं हुआ था, उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किये।

ऋषि दयानन्द इसी बात को इस प्रकार कहते हैं:—

यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात् तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यतः।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३७२

जिन्हों ने बड़े परिश्रम से परमेश्वर का ध्यान कर उस प्रभु की कृपा से मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित किया, उन के किये महान् उपकार का स्मरण रखने के लिए प्रत्येक मन्त्र पर उस के ऋषि का नाम लिखा होना उचित ही है।

यास्क और दयानन्द दोनों स्वयं ऋषि थे। यास्क

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। ऋ०

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए "नूतनैरुत" का अर्थ करते हैं:—

अस्माभिश्च नवतरैः।

हम नये ऋषियों के द्वारा।

दयानन्द लिखते हैं कि कर्मकाण्ड का विधान ब्राह्मणों आदि में हो चुका है। मेरे भाष्य में उस का स्थान नहीं है क्योंकि:—

पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषण-दोषापत्तेश्च। पृ० ३२६

उसी विषय के फिर कहने से अनृषि-कृत ग्रन्थों की तरह मेरे भाष्य में भी पुनरुक्ति का दोष आ जायगा।

दूसरे शब्दों में स्वामी दयानन्द अपने ग्रन्थों को अनृषि-कृत नहीं मानते। स्वयं ऋषि होने से इन दोनों महानुभावों को ऋषित्व का अनुभव है। सो "ऋषि" शब्द का जो अर्थ ये करते हैं, वह अनुभव-सिद्ध है और इस लिए प्रामाणिक है। ऋषि दयानन्द का कहना है कि:—

वेदानामीश्वरोक्त्यमनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत्त-द्दर्षेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति। पृ० ३७२

ईश्वर द्वारा वेद का उपदेश किये जाने के अनन्तर जिस-जिस ऋषि ने जिस-जिस मन्त्र का अर्थ यथार्थ रूप से विदित किया, उस-उस मन्त्र पर उस-उस ऋषि के नाम का उल्लेख किया गया है।

ऋषि तो पीछे भी होते रहे हैं, परन्तु मन्त्रों पर नाम उन "पूर्व ऋषियों" ही का अंकित हुआ है, जिन्हों ने सब से पहले मन्त्रों का प्रचार किया था।

मन्त्र-पठित नाम

पुरातन शैली के अनुसार हम ने भी मन्त्रों पर उन के ऋषियों के नाम दे दिये हैं। यों तो ऋषियों के नाम विशेष-वाची ही हैं, परन्तु कुछ एक नाम ऐसे भी हैं, जो स्वयं मन्त्रों में भी पठित हैं। उन पर विचार करने से मन्त्रों तथा उन ऋषियों के नामों के पारस्परिक सम्बन्ध पर एक अतीव रोचक प्रकाश पड़ता है। नवें खण्ड के अंतिम मन्त्र का आरम्भ इन शब्दों से होता है:—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते।

ऐ वेद के तथा ब्रह्माण्ड के पालक सोम! तुम्हारा पवित्र व्यापक है।

इस मन्त्र के ऋषि का नाम भी "पवित्र आंगिरस" अर्थात् "अंगिरस् गोत्र-उत्पन्न पवित्र" है। इस "पवित्र" नाम का, मन्त्र में आए "पवित्र" शब्द के साथ कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता, सिवाय इस के कि ऋषि ने मन्त्र का दर्शन कर उस के भाव के अनुरूप अपना नाम "पवित्र" रख लिया हो। अथवा पवित्रता के प्रचार के कारण ऋषि का नाम लोक में अपने आप "पवित्र" प्रसिद्ध हो गया हो। आज भी यदि इस मन्त्र का पाठ करते हुए पाठक अपने हृदय को ऋषि के नाम के अनुरूप "पवित्र" बना लें तो मन्त्र के भाव के समझने में उन्हें सुगमता होगी।

प्रथम खण्ड का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है:—

२ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १२
स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
१ २ ३ १२ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥

ऐ संजीवन-रस ! तू रसीली नशीली धार द्वारा पवित्रता का प्रवाह ला । तेरा सवन इस लिए हुआ है कि इन्द्रियों का स्वामी तेरा पान करे ।

इस स्वादिष्ट धारा का ऋषि मधुच्छन्दा है अर्थात् मीठे संकल्प वाला ।

इसी खण्ड के पांचवें मन्त्र में आया है:—

तिस्रो वाच उदीरते ।

तीन वाणियां उठ रही हैं ।

और इन तीन वाणियों का ऋषि है त्रित—तीन को पहुंचा हुआ ।

पांचवें खण्ड के ७ वें मन्त्र में "पुरुस्पृहम्" लोक-प्रिय अथवा अति कमनीय—यह विशेषण आया है। और इस मन्त्र का ऋषि है वशिष्ट। वश् कान्तौ ।

छठे खण्ड के छठे मन्त्र में "अंगोषिणम्"—अंग-अंग में वसा हुआ—विशेषण पाया जाता है । इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है—खूब वसा हुआ ।

सप्तम खण्ड का चौथा मन्त्र भी वसिष्ठ ऋषि द्वारा दृष्ट है । और उस में पाठ आया है:—

विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ।

सब वसु [वास-सामग्री] हाथों में लिये हुए ।

इसी खण्ड के आठवें मन्त्र में कहा है :—

हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिम् ।

राक्षस का हनन करता है । कृपण को सब ओर से बाधित करता है ।

इस बाधा तथा हनन का ऋषि है मन्यु ।

४र्थ खण्ड के १३ वें मन्त्र में "अयास्यः"—अनथक "इन्दुः" का विशेषण पड़ा है । और इस मन्त्र का ऋषि भी अयास्य ही है ।

इन संकेतों पर विचार करने से पता लगता है कि कुछेक ऋषियों के नामों में भी मन्त्रों का भाव आया हुआ है । कहीं-कहीं तो ऋषि ने मन्त्र-पठित कोई पूरा शब्द ही उठा कर उस का अपने नाम के रूप में प्रयोग कर लिया है । जैसे "पवित्र" और "अयास्य" । मन्त्रों में ये शब्द ऋषियों के नाम नहीं हैं । वहां तो "पवित्रम्" नपुंसक है । इस का अर्थ है चलनी । "अयास्य" का अर्थ है—अनथक । वह "इन्दु" का विशेषण है । ऋषियों ने इन भावों को अपने में बसा लिया । ऐसा कर एक "पवित्र" प्रसिद्ध हो गया, दूसरा "अयास्य" । मन्त्र में जो सामान्य संज्ञा थी, वह ऋषियों के नाम के रूप में आ कर विशेष हो गई । इन के सिवाय अन्य नाम तो पूरे भी नहीं लिये गये । वे मन्त्रों के भावों के अनुकूल स्वयं बना लिये गये प्रतीत होते हैं ।

तो क्या ऋषियों के सारे नामों की यही अवस्था है ? क्या ये सब, मन्त्रों के भावों को देख कर बनाये गये हैं ?

ऐसा कहना कठिन है। ऋषियों के नाम मन्त्रों पर लिखे चले आते हैं। और इस बात पर भी बल दिया गया है कि मन्त्र के पाठ के साथ-साथ पाठक देवता तथा ऋषि का भी विचार करे। इस में ऋषि दयानन्द ने यह हेतु दिया है कि ऐसा करने से ऋषियों द्वारा किये गये मन्त्रार्थ के प्रचार-रूपी महान् उपकार का स्मरण हो आता है। जिन नामों में मन्त्र का भाव समा गया है, उन से मन्त्रार्थ समझने में भी सहायता मिलेगी ही। मन्त्र के किस अंश पर अधिक बल है?—यह ज़रूर उस नाम से स्पष्ट हो जाता है। सम्भवतः इसी आशय को सम्मुख रख कर निरुक्तकार ने ऋषियों के नामों की निरुक्तियां भी दे दी हैं। यों निरुक्त में नाम तो ऐसे आचार्यों के भी आते हैं जो मन्त्रों के "पूर्व ऋषि" नहीं हैं। उन नामों का निर्वचन निरुक्तकार नहीं करते, परन्तु ऋषियों के नामों का करते हैं। यह क्या इस लिए है कि इन नामों का मन्त्रों के अर्थ से संबन्ध हो सकता है? हम ने भी निरुक्तकार का अनुसरण कर, ऋषियों के नामों के अर्थ दे दिये हैं।

१. १, ४; २. ३, ८; ३. १,८, ९; ४. १४—इन मन्त्रों का ऋषि अमहीयु है। अमहीयु के दो अर्थ हैं। एक तो मही अर्थात् पृथिवी की इच्छा न करने वाला—सामान्य पार्थिव जगत् से ऊपर दिव्य अध्यात्म की उड़ान लेने वाला। यह भाव प्रायः इन सब मन्त्रों में पाया जाता है। पहले ही मन्त्र में कहा है:—

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र
उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद् भूम्याददे ।
३ २३ ३ २ ३ १ २
उग्रं शर्म महि श्रवः ॥

यहां (भूमि) पार्थिव शरीर द्वारा (दिविसत्) द्युलोक में विद्यमान सोम-संजीवनी के उत्कृष्ट आश्रय का आनन्द लिया जा रहा है।

४. १४ में:—

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ।

इन्द्र के परिष्कृत घर की यात्रा हो रही है।

अथर्ववेद में कहा है:—

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः । १४.१.३

जिसे ब्रह्मवेत्ता सोम समझते हैं उस के [रहस्य] को पार्थिव मनुष्य नहीं पाता ।

"अमहीयु"का एक और अर्थ है—महत्त्व की आकांक्षा न करने वाला—विनम्र। यह भाव ३.१ में इस प्रकार कहा गया है:—

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २र ३र
उपप्रजातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
१ २ ३ २ २
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥

दिव्य-स्वभाव मनुष्यों ने उपदेशों द्वारा परिष्कृत, सुधारे सँवारे गये, उत्तम कुल जात, जल की तरह लचकीले, रसीले विनय-भाव को निकट जा-जा कर प्राप्त कर ही लिया ।

सोम-रस का पान करने वाला विनम्र हो कर द्युलोक का आनन्द लेता है। एक आसमानी प्राणी पृथिवी पर बस रहा है, परन्तु अत्यन्त विनीत भाव से। उस के विमल विनय ही में उसकी दिव्यता सन्निहित है।

ऋषियों के लिए प्रमाण

इस पर्व के सभी मन्त्र ऋग्वेद के ९म मण्डल में विद्यमान हैं, और ऋग्वेद के ऋषियों का ज्ञान शौनक-कृत सर्वानुक्रमणी से हो जाता है। सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा संपादित सामवेद के सायण-भाष्य में भी थोड़े से परिवर्तनों के साथ वही ऋषि दिये गये हैं। इस भाष्य की पाद-टिप्पणियों में ऋषि-नैगेय क प्रमाण से इन ऋषियों के गोत्र भी लिख दिये गये हैं। वैदिक यन्त्रालय द्वारा मुद्रित सामवेद में इन सब पुस्तकों से लाभ उठाया गया प्रतीत होता है, परन्तु प्रति-लिपि में कुछ अशुद्धि रह गई जान पड़ती है। हम ने ऋषियों के नाम सर्वानुक्रमणी के अनुसार दिये हैं।

अनेक ऋषि

ऋषियों के सम्बन्ध में एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि एक मन्त्र का एक ही ऋषि नहीं। कहीं तो एक से अधिक ऋषियों में विकल्प है। इस से प्रतीत होता है कि मन्त्र-दर्शन के इतिहास की पूरी सुरक्षा नहीं हो सकी। और कहीं-कहीं (जैसे ५. १ में) एक ही मन्त्र का दर्शन एक साथ एक से अधिक ऋषियों द्वारा हुआ है। कुछेक मन्त्रों के सात-सात ऋषि हैं। उन

ऋषियों के भारद्वाज आदि वही नाम है जिन्हें उपनिषद् में सात इन्द्रियों का वाचक बताया गया है। कुछ आचार्यों के मत में ९. ४ का द्रष्टा "ऋषिगण" है। एक मन्त्र का प्रचार अनेक ऋषियों ने किया हो—इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वैदिक धर्म किसी एक ऋषि का नहीं, अनेक ऋषियों का है। और जैसे यास्क और दयानन्द की ऊपर उद्धृत की गई उक्तियों से ज्ञात होता है, ऋषियों की यह परम्परा अब तक चल रही है, और आगे भी चलेगी। हम सब इन ऋषियों के ऋणी हैं। परमेश्वर हमें इस ऋण के चुकाने की शक्ति दे। ऋषि दयानन्द के शब्दों में—"वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है। इस का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना आर्यों का परम धर्म है।"

ऋषि-ऋण का शोध

इस परम धर्म के पालन करने से ही ऋषियों का ऋण चुकाया जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक इस ऋण के शोध की दिशा में एक प्रयत्न है। यदि पाठक स्वयं स्वाध्याय कर दूसरों को स्वाध्याय की प्रेरणा करें तो वे भी ऋषि-ऋण से उऋण होने का पुण्य लाभ करेंगे। इस स्वाध्याय में यदि ऋषियों के नामों का भाव अपने हृदय में धारण कर लिया जाय और मन्त्र का विचार उस मनोवृत्ति से किया जाय जो ऋषि के नाम से इंगित होती है तो विशेष लाभ होने की सम्भावना है।

स्वाध्याय का क्रम

जो पाठक मूल-मन्त्र तथा उन के शब्दार्थ समझ सकते हैं, उन के लिए स्वाध्याय का उत्तम क्रम यह होगा कि पहिले मूल-मन्त्र का पाठ करें, फिर शब्दार्थ का। इस के पश्चात् मन्त्र के सम्बन्ध में दिये गये उद्गार का। जब यह प्रक्रिया पूरी हो जाय तो इस क्रम को उलट दें, अर्थात् उद्गार के पश्चात् शब्दार्थ को एक बार फिर पढ़ें और उस का मनन करें। तत्पश्चात् उद्गार तथा शब्दार्थ में दिये गये भावों को सम्मुख रखते हुए मूल-मन्त्र को दुबारा अपने विचार का विषय बनायें। हम ने इस क्रम को उत्तम कहा है। प्रत्येक पाठक इस बात का निर्णय कि इस विषय में उस की वैयक्तिक आवश्यकता किस प्रकार पूर्ण हो सकती है, स्वयं कर सकता है।

परमेश्वर की देन परमेश्वर के अर्पण है। इस अर्पण ने हमारा कल्याण किया है। परम प्रभु सब का कल्याण करे, प्राणी-मात्र का कल्याण करे।

शमित्योम्

गुरुकुल काँगड़ी,
हरद्वार

चमूपति

प्रथम सवन

अद्भुत तरंग

ओ३म्

प्रथम खण्ड

गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

राग का झूलना

३ १ २ ३१ २र ३ १ २र
उच्चा ते जातमन्धसो दिविसद् भूम्याददे।
३२३ ३ २ ३ १ २
उग्रं शर्म महि श्रवः ॥१॥

ऋषिः—अमहीयुः = पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेने वाला।

हे सोम! मैं (ते) तेरी (अन्धसः) प्राण-प्रद संजीवनी से (जातम्) पैदा हुए (उच्चा) ऊँचे, (दिविसद्) द्युलोक में विद्यमान, (उग्रम्) स्पष्ट (शर्म) सुख-पूर्ण आश्रय और (महि) महान् (श्रवः) श्रुति-गान को (भूम्या) इस भौतिक शरीर के द्वारा (आददे) उपलब्ध कर रहा हूँ।

प्रभो! आप जगत् के जीवन हो। आप का प्रेम प्राण-प्रद है। उस में एक रस है, जिस से अद्भुत जीवन मिलता है। इस प्रेम-रस के बिना हृदय की बगिया सूखी है। उसे पानी नहीं मिलता। मन की क्यारी कुम्हला रही है। चित की

कली गल सड़ कर गिर गई है। प्रभो! इस सूखी वगीची के लिए, इस कुम्हला गई क्यारी के लिये, इस गली सड़ी हुई कली के लिये आप की भक्ति का रस संजीवन-बूँद है। यह बूँद इस पृथिवी की उपज नहीं, किसी ज्योतिर्मय जगत् की वस्तु है। बूँद छोटी है पर इस का आश्रय महान् है, साधक की आँखों में यही वस्तु सार है। अन्य कुछ स्पष्ट हो न हो, आप के प्रेम का आश्रय उग्र–उद्गूर्ण है, ऊपर उठा हुआ, सब चीज़ों से अधिक स्पष्ट है। संसार की मरुस्थली में जा रहे यात्री को इसी बूँद का भरोसा है। वा रे! यह बूँद गाने लगी। क्या सुरीला संगीत है! भक्ति का संगीत! साक्षात् भगवती श्रुति बोल उठी है। सुख का बिन्दु सुख का सागर बन गया है।

यह रस भौतिक नहीं, दिव्य है। इस भौतिक जीवन में यह दिव्य रस कैसे आ गया? भौतिक जीवन का उद्देश्य दिव्य है। शरीर है तो मट्टी ही का, पर इस से उपलब्ध दिव्य रस भी हो सकता है। पृथिवी द्युलोक की सीढ़ी है। आ! मेरे मट्टी के शरीर! तुझे पूजूँ। तू मुझे दिव्य राग सुनाये जा। इस संसार में मेरा और कौन है? मेरे प्रभु के विश्राम-घाट! मेरे प्रियतम के सुरीले तँबूरे! बरस! बरस!! गा! गा!! कुछ सुना! कुछ पिला! तेरे गान में रस है। आ! मैं इस का पान करूँ। तेरे संजीवन-रस में ब्रह्म-नाद है। आ! मैं इस का श्रवण करूँ। मेरे मट्टी के शरीर! तू दिव्य है। मैं थक गया हूँ। अपने गान के घोंसले में मुझे बैठा ले।

अपने रस के झूलने में मुझे झुला ले। तू ही तो मेरा असली घर है—रसीला, सुरीला घर !

रहा प्रेम का पलना झूल ॥
चिति की किरणों के झूले में,
झरती झिलमिल तन की धूल।
नस-नस से नाड़ी-नाड़ी से,
उठी तान सुख-मङ्गल-मूल।
राग ज्योति है, ज्योति राग है,
हिलते तार अहो! अनुकूल।

नशीली रसीली लहर

२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥२॥

ऋषिः—मधुच्छन्दाः = मीठे संकल्प वाला।

(सोम) हे सोम ! तू (स्वादिष्ठया) अत्यन्त रसीली (मदिष्ठया) अत्यन्त नशीली (धारया पवस्व) धारा के रूप में प्रवाहित हो। [जीव-जगत् को] पवित्र कर। (सुतः) तेरा जन्म इस लिए हुआ है कि (इन्द्राय पातवे) मैं इन्द्रियों का राजा तेरा पान करूँ।

मोहन ! तेरा प्रेम-रस अत्यन्त रसीला, अत्यन्त नशीला है। जिस ने इस का एक घूँट पी लिया, उसे दुनिया की सुध-बुध

न रही। संसार जिसे दिन कहता है, वह उस के लिए रात है। संसार जिसे रात कहता है, वह उस के लिए दिन है। वह पागल है। अपनी मस्ती में बहा जाता है। एक तरंग है कि वह उस पर सवार है। कैसा पवित्र, कैसा बेलाग नशा है! काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार—कोई भी मल ऐसा नहीं जो इस नशे के साथ लगा रहे।

इस नशे का पान साधारण जन नहीं, केवल राजा लोग करते हैं। तो हम भी तो अपनी देव-पुरी के राजा हैं। हमारे शरीर को स्वयं वेद अयोध्या—युद्धों से बचाने लायक़, अजेय—नगरी कहता है। हम इन्द्रियों के स्वामी हैं। हमारा संयम-रूप स्वराज्य अटल है। हमारा अधिकार है कि हम सोम का—प्रभु-प्रेम के संजीवन-रस का—जी भर कर पान करें।

बहती नवल नशीली धार॥
झूम झूम मद-माती लाती,
सुख-संजीवन सार।
रोम-रोम बन ओंठ चूसता,
ऐसा सरस ख़ुमार।
मेरी देव-पुरी के राजा!
करो ग्रहण उपहार।
बहती नवल नशीली धार॥

धर्म-मेघ

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः ।

३ १ २ ३ १ २
विश्वा दधान ओजसा ॥ ३ ॥

ऋषिः—भृगुः=तपस्वी

(धारया) अपनी धारण करने वाली संजीवनी से (वृषा) धर्म-मेघ बन कर (पवस्व) पवित्रता का प्रवाह चला। (मरुत्वते) प्राण-शक्ति के धनी के लिये तू (मत्सरः) हर्ष का सरोवर है। (ओजसा) अपने ओज से (विश्वा) समस्त भूत-जात को—अनेक ब्रह्माण्डों को (दधानः) धारण करता हुआ प्रवाहित हो।

मंगलमय भगवान्! इस एक विश्व का ही नहीं, संपूर्ण विश्वों—संपूर्ण ब्रह्माण्डों का आधार आप की शक्ति है। इस एक शक्ति के द्वारा केवल भिन्न-भिन्न लोक ही नहीं, सारे-सारे ब्रह्माण्ड एक हो रहे हैं। कैसा आश्चर्य है कि संसार का अणु-अणु अपनी पृथक् सत्ता रखता है और फिर जीवन की रस्सी द्वारा दूसरे सब परमाणुओं के साथ बँधा हुआ है। प्रभो! यह तुम्हारी महिमा है। जीवन की रस्सी तुम्हारी संजीवनी शक्ति है। ब्रह्माण्ड तुम्हारा शरीर है, तुम इस के आत्मा हो। शरीर को आत्मा ने एक बना रखा है। जीवन की धारा बह रही है और बिन्दु-बिन्दु को एक सुन्दर मनके के रूप में तरंगों की माला में पिरो रही है।

तुम्हारी कृपा पवित्रता का मेघ बन कर बरस रही है। पाप धुल रहे हैं। पुण्यों का प्रवाह बह रहा है।

प्रभो ! यह प्रवाह किस के लिए है ? पृथिवी प्रसन्न है। जल प्रसन्न है। वायु के झोंके खुश हैं। यह सकल संसार हर्ष का पवित्र सरोवर है। किस के लिए ? मरुत्वान्—प्राणों के पति इन्द्र के लिए। तो क्या मैं इन्द्र नहीं ? मेरी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मेरे अधीन हैं। मेरा देखना, सुनना, खाना, सूँघना, स्पर्श करना मेरे अपने बस में है। मैं विषयों का दास नहीं, स्वामी हूँ। राजा हूँ।

तो प्रभो ! इस सरोवर में एक डुबकी मैं भी तो लगा लूँ। मेरा जीवन भी स्वच्छ हो जावे।

धर्म-मेघ ! बरसो। मेरी आशा-कलिकाओं पर बरसो। मुझ चातक के मुख में एक स्वाति-बिन्दु टपका दो। देखो ! कब का प्यासा हूँ। तुम्हारी तरफ़ मुँह उठाये खड़ा हूँ। प्रभो ! एक बूँद !

पाप-नाशक नशा

२ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
यस्ते मदो वरेण्यस्तेनापवस्वान्धसा ।
३ १ २ ३ २
देवावीरघशंसहा ॥ ४ ॥

ऋषिः—अमहीयुः = पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेने वाला।

(ते) तेरा (यः) जो (वरेण्यः) ग्रहण करने लायक (मदः) नशा है (तेन) उस (अन्धसा) प्राण-प्रद संजीवन-रस से

(आपवस्व)चारों ओर पवित्रता का प्रवाह चला। तू (देवावीः) दिव्य भावनाओं तथा दिव्य प्रजाओं का रक्षक तथा (अघशंसहा) पाप की प्रशंसा का घातक है।

अन्य सब नशे छोड़ देने चाहिये। वे मैले हैं, अपवित्र हैं। उन में पाप का पुट है। वे हिंसा से पैदा होते हैं। उन के ख़मीर में पाप है। वे पाप ही की उपज हैं और पाप ही की प्रेरणा करते हैं। परन्तु मोहन ! तेरे प्रेम का नशा प्राण-प्रद है। इस से स्वास्थ्य बढ़ता है। इस के पान से शरीर नया जीवन-लाभ करता है। और मन की तो काया-पलट सी हो जाती है। यह नशा अत्यन्त पवित्र, अत्यन्त सुख-दायक है।

देवताओं के लिये यह नशा अमृत है। दैवी प्रवृत्तियाँ सो रही हों तो इस नशे का ध्यान आते ही जाग जाती हैं, झूमने लगती हैं। भली भावना किसी संकट के कारण मृत-प्राय हो तो केवल जी ही नहीं, लहलहा उठती हैं। साईं के स्नेह का नशा सत्य की, सरलता की, सन्तोष की, सदाचार की रक्षा करता है। लाख आपत्तियाँ आती हों, साईं का स्नेही धर्म के रास्ते से नहीं हटता। धर्म के लिए संकट सहने में उसे आनन्द आता है। पाप की मोहिनी साईं के स्नेह के सम्मुख एक क्षण के लिये भी नहीं ठहर सकती।

हमारा मन भटक जाता है। उस की रुचि पाप की ओर हो जाती है। कोई अन्दर-अन्दर से मानों दबी सी आवाज़ में पाप की प्रशंसा करने लगता है। दिल कहता है—पाप

है तो क्या, इस से लाभ ही होगा, झूठ बोल दो, इस से एक अपना ही नहीं, संपूर्ण जाति का लाभ है । परोपकारार्थ छल करने में क्या दोष है ? इस प्रकार के कितने छल हैं जो मेरा छली मन रोज़ करता रहता है ।

प्रभो ! आप की आँख बचा कर तो यह छल चल भी जाये, परन्तु आप के सामने आते ही यह मोह का—अज्ञान का ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो जाता है । आप की एक कृपा-कोर लाख पापों का बंटाढार कर देती है ।

तो फिर वह आप की कृपा-कोर कहाँ है ? मेरे लिये वही सोम है । मैं उसी का प्यासा हूँ । एक प्याली ! एक घूँट !! एक बूँद !!!

रंभा-नाद

तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥५॥

ऋषिः—त्रितः=पूरा तरा हुआ, तीन से घिरा हुआ ।

(तिस्रः) तीन (वाचः) ध्वनियाँ [अ, उ, म्] (उदीरते) उठ रही हैं । मानो (धेनवः) दुधैला (गावः) गायें [बछड़ों को] (मिमन्ति) बुला रही हैं । (हरिः) चित-चोर (कनिक्रदत्) गरजता हुआ (एति) आ रहा है ।

प्यारे ! तुम ने मेरा हृदय चुरा लिया है । मुझे पता भी

नहीं होने दिया और मेरी सारी सुध-बुध हर ली है। यह क्या तुम्हारी आवाज़ आ रही है? पृथिवी से, आकाश से, बहती हुई नदियों से, चलती हुई वायु के झकोरों से, गरजते हुए बादलों से, कड़कती हुई बिजली से—क्या तुम्हारी आवाज़ आ रही है? सुनसान रात में, तारों भरे आकाश के नीचे, जब सारा संसार मौन साधे सो रहा होता है, वायु भी थक कर अपने पंख सुकेड़ लेती है—ऐसे सन्नाटे में मैं तुम्हारे नाम के जाप को सुनता हूँ। अ, उ, म्—ओ३म्। क्या यह तुम बोल रहे होते हो?

सृष्टि की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक चेष्टा, तुम्हारा गान है—मनोमोहक उद्गीथ है। चेष्टा आरम्भ हुई। मानो गायक का गला खुल गया। गला खुलना क्या है? "अ" का उच्चारण। तान उड़ने लगी—"उ-उ-उ-।" यह तान की उड़ान है—क्रिया का लम्बा क्रियामाण रूप। गायक लय के मज़े ले-ले कर अन्त को अपनी ही लय में लीन होने लगा। उस के ओंठ मिल गये—गान के मिठास ने चिपका दिये। यह ओंठों का चिपकना और क्या है? "म्" का मूर्त्त रूप।

संसार का अणु-अणु ओम् का उच्चारण कर रहा है। क्या मधुर गीत है? उतना ही मधुर जितना जंगल से लौटी हुई गौ का रंभा-गीत। इस रंभा-गीत को कोई बछड़े के कान से सुनो। गौ के स्तनों में दूध भर रहा है, बछड़े के पेट में भूख उमड़ रही है। रंभा-नाद दूध के मुँह को भूख के ओठों से मिला रहा है। बछड़े को माँ के स्तन के

सिवा चैन नहीं। स्तन मानों माँ के मुख से ही बछड़े के कानों में दूध उँडेल रहा है।

मेरी जंगल से लौटी हुई माँ! आ! आ!! रँभा! रँभा!! अ......उ......म्। यह तीन अक्षर सुनाये जा। मेरा रोंगटा-रोंगटा इस राग का भूखा है। मेरे रोम-रोम का मुख इस अपने स्तन से लगा ले। दूध के साथ-साथ तेरे वात्सल्य-रस का पान करूँ। यही मेरा सोम-पान है।

माँ! मैं तेरा बछड़ा हूँ। मुझे छोड़ कर तू सारा दिन कहाँ रही? अब तो साँझ हो रही है। तेरे पीछे मैं ने काफ़ी धूल उड़ाई है। मेरे कुकर्मों की धूल मेरे भाग्यों की धूलि-वेला बन गई है। माँ! आ! इस धूलि-वेला में दौड़ती हुई आ! गरजती हुई आ! हाँपती हुई आ! बच्चे का हृदय तेरे स्तनों में—तेरी छातियों में है। आ! उस की भूख, प्यास—मैया के दर्शन की भूख—उस के रंभा-नाद की प्यास—हर ले। अपने दूध के हाथों, अपने रंभा-नाद के हाथों हर ले।

इन्द्र की अर्चना

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥६॥

ऋषिः—कश्यपः = द्रष्टा।

(इन्दो) हे जगत् को सरसाने वाले स्नेह-रस के सुधाकर

मुझ (मरुत्वते) प्राणों वाले (इन्द्राय) मुझ इन्द्रियों वाले देह-धारी के लिये (मधुमत्तमः) अत्यन्त मधुर हो कर (पवस्व) पवित्रता का प्रवाह चला। मैं (अर्कस्य) अर्चना के (योनिम्) मन्दिर में (आसदम्) प्रवेश कर रहा हूँ।

मेरे प्राण प्रबल हैं। शरीर स्वस्थ है। अंग-अंग में स्फूर्ति है। निठल्ला बैठने को जी नहीं चाहता। दसों इन्द्रियाँ शक्ति-शाली है। यह सब कुछ होते हुए भी जीवन नीरस है। स्वास्थ्य के साथ भी दिन बीत जाता है। रोग की अवस्था में भी ज्यों त्यों रात कट जाती है। किसी ने कराह-कराह कर समय गुजार दिया, किसी ने हँस खेल कर दिन बिता दिये। स्मृति दोनों की नीरस है।

मुझे शक्ति का अभिमान तो होता है, रस नहीं मिलता। गर्व से गर्दन उठा देता हूँ और वह ऐंठ जाती है। पर ऐंठ में रस कहाँ? रस तो लचक में है। हाँ लचक ही में जीवन है।

प्रभो! कोई लचकीला आनन्द! कोई स्थायी स्थिर रस! सुनता हूँ, स्थिर रस तुम्हारी कृपा-कोरों में है। तुम्हारी कृपा-कोरों की चाँदनी चाँद के, तारों के प्रकाश के साथ-साथ जगत् को व्याप्त कर रही है। आकाश-गंगा प्रेम की गङ्गा बहाये जा रही है। मेरे हृदय-चकोर के चाँद! तुम्हारी स्निग्ध किरणों ने ही तो अपने स्नेह-रस में सम्पूर्ण प्रकृति को गूँध-गूँध कर रस-मय बना दिया है। तुम्हारा हृदय आर्द्र न होता तो अणु-अणु पृथक् भले ही रह जाता।

इस में तरी न आती । पिण्ड न बनते । ब्रह्माण्डों की सृष्टि—संसृष्टि—न हो पाती ।

हे सृष्ट जगत् के संजीवन-रस । एक कृपा-कोर मेरी ओर भी !

मैं अपने ताप का कारण समझ गया हूँ ! वह है तुम्हारी करुणा से विमुखता । मेरे पास स्वास्थ्य है, स्फूर्ति है, पर इन दोनों का सार—तुम्हारा स्नेह मेरी आँखों से दूर है ।

हे प्राणों के प्राण ! मेरे प्राणों को अपनी स्नेह-सुधा से अनुप्राणित कर दो । मेरे जीवन को अपनी संजीवनी से उज्जीवित कर दो । मेरी इन्द्रियाँ तुम्हारी अर्चना के फूल बन जायें । मेरे प्राण तुम्हारी पूजा के नैवेद्य हों । आज मेरा नया जन्म हो । अर्चना के जीवन का जन्म । पूजा के नव-जीवन का उदय ।

मैं झुक जाऊँ, लचक जाऊँ, तुम्हारे चरणों में तन, मन, धन—सब अर्पण कर दूँ । सफलता अर्पण में है । अर्चन में है । अर्पण अर्चन एक हैं ।

कोंपल फूटी

१ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ २
असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः ।
३ २ ३ ३ १ २
श्येनो न योनिमासदत् ॥७॥

ऋषिः—जमदग्निः = चलती हुई आग ।

(गिरिष्ठाः) बादलों में, पर्वतों में, ऋषियों की वाणियों में रहने

वाली (दक्ष:) संजीवन-शक्ति (मदाय) हर्ष के लिये (अप्सु) [मेरे आर्द्र हृदय की] व्यापक तरंगों में (अंशु:) कोंपल सी (असावि) फूट पड़ी है। (न) मानों (श्येन:) बाज़ (योनिम्) घोंसले में (आसदत्) आ गया है।

काले-काले बादल, हरे-हरे पर्वत शक्ति का घर हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे पर्वत पर पर्वत दौड़ रहे हैं। प्रभु की लीला के ये विशेष स्थान भक्तों के हृदयों की तरह सदा आप्लावित रहते हैं। इन से प्रतिक्षण रस टपक रहा है। नदियाँ बह रही हैं। झरने झर रहे हैं। फव्वारे स्थान-स्थान पर फूट रहे हैं। प्रकृति देवी अपना आर्द्र हृदय उँडेल रही है। नदियों के ऊँचे नाद, प्रपातों के सुरीले संगीत, वृक्षों की मधुर महारनियाँ प्रभु की महिमा के आह्लाद-जनक आलाप हैं। मानों आदिम सृष्टि के ऋषि अभी वहीं खड़े वेद-मन्त्रों का जाप कर रहे हैं। कैसा स्वाभाविक रसास्वाद है।

रस के इस व्यापक प्रवाह में मेरा हृदय क्यों सूखा है? अहा! प्रेम-पवन का एक झोंका इधर भी आया। रस-लहरी का एक थपेड़ा इस शुष्क मरुस्थली को भी भिगो गया। मैं मस्ताना हो उठा। मेरा मन झूम रहा है। इस मरुस्थली में एक हरी कोंपल फूट पड़ी है। आज मेरा हृदय तरंगों की विलास-भूमि है। प्रभो! मैं जीता हूँ। मैं सूखा काठ नहीं रहा। आप के अनुग्रह-भार से लदी लचकीली शाखा हूँ।

लचक ही में गौरव है। आप की कृपा झुकी और मुझे झुका गई। पर्वतों की शक्ति अनघड़ थी। बादल मस्त हाथी

थे। जीवन-बल तो सिंह में भी था, चीते में भी, चील में भी था, बाज़ में भी। परन्तु इस का सुसंस्कृत आविष्कार सन्त के स्नेह-सम्पन्न हृदय में होता है। भक्त के हृदय में आकर जीवन-शक्ति सचमुच संजीवनी बन जाती है। बाज घोंसले में आ जाता है। जंगली नागर बन जाता है।

पर्वत और बादल का नाद मनुष्य की हृदय-तन्त्री से झंकृत होकर निकले, तभी वह अजपा जाप है, अनाहत नाद है। विश्व-गीत के गायक! मेरे हृदय की वंशी अपने ओठों से लगा लो। फिर देखो! तुम्हारे स्वरों के रस की कैसी उत्तम निष्पत्ति होती है?

चतुर गवैये! अपना मधुर गान सफल करो।

चित-चोर रस

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥८॥

ऋषिः—दृढच्युतः=बल-पूर्वक हिला देने वाला।

(हरे) हे चित-चोर रस! (देवेभ्यः पीतये) देवताओं के पान के लिये (दक्षसाधनः) शक्ति का सामान बन कर, (मरुद्भ्यः वायवे) मरुतों के विलास के लिये (मदः) मस्ती का सामान बन कर (पवस्व) बह।

मेरी देह-पुरी के देव प्यासे हैं। मेरे मुख में अग्नि, मेरे

नेत्रों में सूर्य और चन्द्रमा, मेरे कानों में मित्र और वरुण, मेरी नासिका में नासत्य—अश्विनी-कुमार विद्यमान हैं। ये देवता कभी के प्यासे चले आते हैं। आँखें देखती हैं पर उन का देखना नीरस है। कान सुनते हैं पर उन के सुनने में मिठास नहीं। मुख बोलता है पर रूखा-सूखा। वनों, पर्वतों, बागों, खेतों, वृक्षों, बेलों को सरसाने वाले, फूलों, कलियों, पत्तों, तथा शाखाओं की हरियाली में झाँकी दे रहे चित-चोर छबीले देव! अपनी मुस्क्यान की छटा अपनी इस देव-पुरी पर छिटका दो। मेरी इन्द्रियाँ अशक्त हैं। इन में नयी स्फूर्ति भर दो।

मेरे श्वास चल तो रहे हैं, परन्तु अत्यन्त शुष्क। प्राणायाम का अभ्यास बहुत किया है। इस से शरीर में आग सी पैदा हो गई है। शरीर को जितना तपाता हूँ, उतना क्रोध चढ़ता है। स्वभाव में अधीरता आती है, चित चिड़चिड़ा सा हो रहा है।

क्या इस का कारण यही नहीं है कि मेरी तपस्या में स्नेह-रस नहीं है? मैं प्राणों की धौंकनी धौंकता हूँ पर इस में प्रभु-भक्ति की चिकनाहट नहीं लाता। एक बार तो हे चित-चोर प्रियतम! मेरे प्राणों को अपने प्रेम के रस में भिगो दो। मेरे प्रणव के जाप में अपनी सुरीली लय मिला दो। मेरे प्राणों में मस्ती आ जाये। मेरा श्वास-श्वास झूम उठे। मेरे रोम-रोम में नृत्य का सा नशीला मद पैदा हो जाये।

प्रभो ! आओ ! रस बहाते हुए, पवित्रता का प्रवाह लाते हुए आओ। मेरी शुष्कतायें हर लो। मेरे श्वास-श्वास में रस भर दो।

चलनी

१२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत्।
१ २ ३ २
मदेषु सर्वधा असि ॥९॥

ऋषिः—असितः = बन्धन-रहित।

(गिरिष्ठाः) पर्वतों, मेघों और ऋषियों की वाणियों में विद्यमान (सोमः) संजीवन-रस (परिस्वानः) चारों ओर से शब्द करता हुआ (पवित्रे) हृदय की चलनी में (अक्षरत्) टपका। (मदेषु सर्वधा असि) तू सब को नशों में चूर रखने वाला है।

प्रभो ! मैं तुम्हारी लीला को देखता हूँ। जब से तुम ने मेरे हृदय को अपने ज्ञान की उषा का उदयाचल बनाया है, जब से मेरे नेत्र तुम्हारी करुण कृपाओं के मेघ बन रहे हैं, तब से मैं तुम्हारे पर्वत-विलास, मेघ-विलास, ऋषि-हृदय-विलास के प्रत्यक्ष दर्शन करता हूँ। मेरे हृदय में भक्ति के स्रोत फूट पड़े हैं, झरने झर रहे हैं, नदियाँ बह निकली हैं। एक विचित्र हरियाली छा रही है। मेरा रोम-रोम झूम रहा है।

मैं अपने हृदय की क्या कहूँ। यहां तो ब्रह्माण्ड-भर एक अद्भुत प्रकार की रास की क्रीडा-स्थली बन रहा है। सूर्य अपनी परिधि पर घूम रहा है। ग्रह अपने गिर्द भी घूमते हैं, सूर्य के गिर्द भी। उपग्रह ग्रहों के गिर्द चक्कर काटते हैं। अणु-अणु गतिमान् है। पत्ती-पत्ती में नृत्य है, ताल है। प्रकृति के छोटे बड़े सभी पिण्ड नाच रहे हैं। सब ने प्रेम-रस का सोम-पान कर रखा है। सम्पूर्ण विश्व प्रेम के नशे में चूर हुआ झूम रहा है।

इन मस्तानों में मेरा हृदय भी मस्ताना हो उठे तो इस में आश्चर्य की क्या बात है? संसार मस्ती का घर है।

भक्त की उड़ान

परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः।
स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥१०॥

ऋषिः—कविः = क्रान्तदर्शी।

(दिवः) द्युलोक का (कविः) कवि (नप्त्योर्हितः) द्युलोक और पृथिवी के बीच में ठहरा हुआ (कविक्रतुः) अपनी आक्रान्त-दर्शिता से (स्वानैः) सुरीली तानों द्वारा (प्रिया) प्यारे (वयांसि) उड्डीयमान लोकों के (परि याति) चारों ओर भ्रमण करता है।

कवि इस जगत् का नहीं, द्युलोक का वासी होता है। उस का संसार भावनामय है। उस के शरीर की गति पृथिवी

के तल पर और भावनाओं का वास आसमान में रहता है। उस के संगीत की स्वर तारों के साथ-साथ आसमानों की सैर करती है। जब सारा संसार सो रहा होता है, वह अपने विचार-जगत में नये ग्रहों तथा उपग्रहों की सृष्टि कर रहा होता है। उस की भावना के लोक निराले हैं। अध्यात्म की दुनिया इस भौतिक दुनिया से बिलकुल भिन्न है।

सन्त क्रियात्मक कवि है। उसकी एक-एक चेष्टा संगीत-मय है। क्रान्तदर्शी वास्तव में ऋषि ही को कहते हैं। प्रभु-भक्ति के मद का मस्ताना, गा-गा कर सम्पूर्ण संसार को गानमय बना देता है। उस की तानें, लोक-परलोक की काया-पलट कर देती हैं। वह एक युग का रचयिता होता है। उसका सोम-पान वास्तव में संजीवन-प्रद है।

ओ३म्

द्वितीय खण्ड

गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

ज्ञान-यज्ञ में सोम

१२ २र ३ २३ १२ ३१२
प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।

३ २ ३ १२
सुता विदथे अक्रमुः ॥१॥

ऋषिः—श्यावाश्वः = वृद्ध ज्ञान वाला।

(मदच्युतः) मस्ती टपका रहे (सुताः) प्रकट हुए (सोमासः) संजीवन-रस के स्रोतों ने (नः) हम (मघोनाम्) सम्पत्तिशाली यजमानों के (श्रवसे) श्रवण के लिये (विदथे) ज्ञान-यज्ञ पर (प्राक्रमुः) आक्रमण कर दिया है।

प्रभो ! तुम ऐश्वर्यवान् हो तो हम भी आप की कृपा से अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। तन-बल, धन-बल, मनोबल—ये सब हमारे पास हैं। ये सब ऐसी सम्पत्तियाँ हैं जिन में से एक के मालिक होने से भी हम मघवा—सम्पत्ति-

शालो—कहला सकते हैं। आप बड़े इन्द्र सही, हम भी छोटे इन्द्र तो हैं ही।

क्या आप का आदेश यह है कि हम इन ऐश्वर्यों का उपयोग यज्ञ में करें? यज्ञार्थ काम में लाई गई सम्पत्ति ही वास्तव में सफल सम्पत्ति होती है।

तो प्रभो! हम आप की आज्ञा को स्वीकार करते हैं। हम यज्ञ करते ही हैं। हमारी सब प्रकार की शक्तियों का व्यय परोपकार में हो रहा है। हम पहिले औरों को खिलाते, पीछे यज्ञ-शेष का—यज्ञ से बचे हुए पदार्थ का—स्वयं उपभोग करते हैं। हम ने अपना तन मन धन—सभी कुछ लोकोपकार के अर्पण कर रखा है। हमारे ज्ञान का प्रचार जनता के हित के लिए हो रहा है। हमारे प्रयत्न से भ्रान्तियों का नाश हो रहा है। कुरीतियाँ मिटती जा रही हैं।

यह सब कुछ हो गया है, परन्तु क्या यह पर्याप्त है? भ्रान्ति का नाश हो कर उस के स्थान में सत्य के ग्रहण की भी तो आवश्यकता है। सत्य रसीली वस्तु है। उस में एक नशा सा होता है, जिसे श्रद्धा कहते हैं। श्रत् सत्यम्; धा धारणे। सत्य का धारण श्रद्धा ही से होता है।

अन्ध-विश्वास फिर विश्वास था। कहीं उस के अंधेपन का नाश करते-करते स्वयं विश्वास का नाश तो नहीं कर दिया गया? शास्त्र कहते हैं—तर्क का प्रतिष्ठान—टिकाव—कहीं नहीं होता। तर्क बे-पेंदी का लोटा है। यह खण्डन के लिए उपयोगी

उपकरण है । परन्तु इस के द्वारा मण्डन नहीं हो सकता । सत्य की स्थापना के लिए श्रद्धा चाहिये ।

ज्ञान-यज्ञ में भक्ति का सोता फूट पड़े, तभी यह यज्ञ सफल है । मूर्त्ति-पूजा का स्थान अमूर्त्त प्रभु की पूजा को दिया जाय, अपूजा को नहीं, अश्रद्धा को नहीं । मृतक-श्राद्ध के स्थान में जीवित-श्राद्ध की प्रथा प्रचलित हो । जात-पांत की जगह वर्ण-व्यवस्था ले ले, वर्ण-संकर नहीं ।

सिर झूम रहे हों, गर्दनें हिल रही हों । वक्ता तथा श्रोता सभी मस्त हों । दोनों की एक-एक चेष्टा से—एक-एक भाव-भंगी से—मस्ती टपक रही हो । वह होगा वास्तविक ज्ञान-यज्ञ । यज्ञ बिना सोम के नहीं हो सकता । सोम ही तो यज्ञ का संजीवन है । ज्ञान-यज्ञ का सोम है श्रद्धा ।

तो प्रभो ! हमारे ज्ञान-यज्ञ में सोम का सोता बहा दो। हमारे प्रचार में रस हो। हमारा श्रवण, मनन, निदिध्यासन सब रस-मय हो । हमारे प्रवचन में प्रेम-रस की वर्षा हो रही हो ।

क्या ऐसा हो गया है ? आप का दिया वेद कहता है—ऐसा हो रहा है । क्या सचमुच ऐसा हो रहा है ? क्या वास्तव में हमारे "विदथ" पर—ज्ञान-यज्ञ पर—मस्ती टपकाने वाले सोम-रस ने चढ़ाई कर दी है ?

मस्ताने ज्ञानी

प्र सोमासो विपश्चितो अपो नयन्त ऊर्मयः ।
वनानि महिषा इव ॥२॥

ऋषिः—त्रितः = पूरा तरा हुआ ।

(सोमासः) भक्ति-रस से शराबोर(विपश्चितः)विद्वान् (ऊर्मयः) लहरों की तरह (अपः) प्रजाओं को (प्रनयन्तः) बहा ले चलते हैं । (महिषाः वनानि इव) जैसे महान् [बादल] जलों को ।

विद्वान् का प्रभाव अविद्वान् पर होना स्वाभाविक है । जनता को ज्ञान नहीं होता । ज्ञान की प्राप्ति विद्वानों से ही होती है । विद्वान् जो लहर चलाना चाहें, चला सकते हैं । जातियों के भाग्य का निर्णय इतना ऐतिहासिक घटनाओं ने नहीं किया जितना "विपश्चितों"—विचारकों के विचार ने । विजय-शील जातियाँ पराजित हो गईं । क्यों ? इस लिए कि उन के विचारक विजय को महत्व ही नहीं देते थे । शान्ति-प्रिय देश आपस में गुत्थम-गुत्था हो गये । क्यों ? इस लिए कि उन के दार्शनिकों को बिना गोला-बारूद चलाये चैन नहीं पड़ती थी ।

विश्व विचारकों की विचार-लहरी पर नाच रहा है । विचारक बादल हैं, प्रजाएँ जल । बादल ने जलों को जहाँ चाहा, बरसा दिया । विचारक भीरु जाति को फिर से वीर

वना लेते हैं। तीन-तेरह हुए देशों को फिर से संगठित कर लेते हैं। उन के मनन में मोहिनी होती है। वे अपने मनों की लहरों का सञ्चार सम्पूर्ण संसार में करते हैं। पर हाँ ! ऐसा हो जाना उसी समय संभव है, जब कि विचारकों का कोई उद्देश्य हो। उन के सामने कोई लक्ष्य हो और उस में उन की श्रद्धा हो। वे उस के पीछे मस्ताने हों, दीवाने हों। मस्ताने विद्वान् जनता को ले चलते हैं। जनता के लिए श्रद्धा का मद जादू का असर रखता है ।

और जो कहीं नेता स्वयं सन्देह का शिकार हुआ, प्रजा उस का अनुसरण नहीं करेगी। सन्देह में संगठन की शक्ति कहाँ है ? वह तो दो मिल रहे हृदयों को भी तोड़-फोड़ देता है। प्रजाओं को संशय के सूत्र में पिरोया नहीं जा सकता। संशय का कोई सूत्र ही नहीं। संशय तो नाम ही भिन्न-भिन्न तागों के भिन्न-भिन्न सिरों का है, जिन का मेल नहीं होता। श्रद्धा-रहित तर्क तो एक मनुष्य को भी अनेक दिशाएँ दिखा देता है। अविश्वास में बिखेरने की शक्ति भले ही हो, समेटने की शक्ति नहीं है। संदिग्ध जातियों का संजीवन सोम है। प्रभु का प्यारा प्रभु की महिमा के गीतों से ही बिखरी हुई प्रजा का कल्याण करता है। उन में रस भरता है। मृत-प्राय जनता में एक नये जीवन का संचार कर देता है।

प्रजा का प्रेरक है प्रभु का प्यार। यही वह सोम है जो समाज-सुधार के रूप में प्रकट होता है। संसार-भर की सुधारणाओं के युग श्रद्धा के युग हैं।

क्या ऐसे "विपश्चित् सोमों" का प्रादुर्भाव हम लोगों में नहीं होता रहा है ? होता रहा है, और लगातार होता रहा है। ऋषि विपश्चित् सोम ही तो थे। वे थे श्रद्धालु तार्किक। प्रभो! हमें उन का तर्क दिया है तो श्रद्धा भी दो। संशय दिया है तो ज्ञान और भक्ति भी दो। भक्ति-मय ज्ञान, ज्ञान-मय भक्ति। हम विपश्चित् भी हों, सोम भी।

धर्म-मेघ की रस-वर्षा

१२ ३ १२३२ ३ १ २ ३ ३ १ २
पवस्वेन्दो वृषासुतः कृधी नो यशसो जने।
३ २ ३ १ १
विश्वा अप द्विषो जहि ॥३॥

ऋषिः—अमहीयुः = पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेने वाला। (इन्दो) हृदय को सरसाने वाले संजीवन-रस! (वृषा-सुतः) तू धर्म-मेघ द्वारा संपादित हुआ है। (पवस्व) तू पवित्रता का प्रवाह चला। (नः) हमें (जने) जनता में (यशसः) यशः स्वरूप (कृधी) कर। (विश्वा) सब (द्विषः) द्वेषों को (अपजहि) नष्ट कर दे।

समय-समय पर धर्म-मेघ संसार में आते हैं। वे आत्म-संशोधन की एक नई लहर चलाते हैं। उन के प्रचार के परिणाम-स्वरूप, पवित्रता का एक नया प्रवाह संसार में बह निकलता है। जो भी इस प्रवाह के साथ संबद्ध हो जाता

है, वह अपने संपूर्ण जीवन में एक नये रस का संचार अनुभव करता है। धर्म-मेघ के निकट जाना मानो अपने हृदय को आध्यात्मिक विद्युत् द्वारा आविष्ट कर लेना है।

नये आन्दोलन का विरोध होता है। सुधारणा का पक्ष लेने वाले कष्ट झेलते हैं, आपत्तियाँ सहते हैं, और इस सहन में उन्हें आनन्द आता है। एक विचित्र प्रकार के मिठास की अनुभूति होती है।

सुधारक-दल अपने सहन से, सदाचार से लोक-प्रिय होता जाता है। जनता आरंभ में उन के कथन को स्वीकार नहीं करती परन्तु उन की तपस्या का सिक्का मानती है। उन का यश दिग्दिगन्त में फैल जाता है।

सुधारकों के हृदय में द्वेष का लेश-मात्र नहीं रहता। उन की आपस की प्रीति के तो कहने ही क्या हैं। जहाँ कोई सुधारक भाई मिल गया, वहीं उस पर वारे-न्यारे हो गये। किसी सहोदर भ्राता से मिलने का इतना आनन्द नहीं होता, जितना उस धर्म के भाई से।

सर्व-साधारण के प्रति भी उन की वृत्ति प्यार तथा उपकार की होती है। वे किसी से शत्रुता कर ही नहीं सकते। धार्मिक सुधार तो नाम ही विश्व-व्यापी प्यार का है। वे जनता का सुधार ही इसी लिए करना चाहते हैं कि उनको जनता से प्यार है।

सुधारक सौभाग्यवान् हैं। उन्हें उस सत्य की झाँकी मिली है जो सर्व-साधारण के हिस्से नहीं आया। यदि सर्व-

साधारण उन का विरोध करते हैं तो सिर्फ इस लिए कि इन्हें वह प्रकाश नहीं मिला। ये अँधेरे में हैं। कोई अंधेरे में जा रहे से रुष्ट क्यों हो ? नेत्र-विहीन रास्ते से भटक रहा है तो आँखों वाले का काम है कि उसे रास्ते पर डाल दे। समझा कर, बुझा कर, रिझा कर, मना कर—किसी तरह उसे सन्मार्ग पर ले जाय।

द्वेष को मिटाने निकला है तो सब से पूर्व अपने हृदय को द्वेष-रहित कर। द्वेषी के प्रति भी द्वेष-भाव पैदा न होने दे। तू द्वेषी हो गया तो विजय द्वेष की हुई, तेरी धार्मिक सुधारणा की नहीं। उद्धार करता-करता अपने आप पतित न हो जा।

प्रभो ! हम ने प्रचार का बीड़ा उठाया है। क्या यह बीड़ा आप का नहीं ? धर्म-मेघ भी तो आप की विभूति है। जिस संजीवन-रस का संचार उस की वाग्वृष्टि से हो रहा है, वह रस आप की कृपा-कोरों ही का है। तो उस से द्वेष क्यों किया जाता है ? अपने भक्त के भक्ति-रस को ज़रा और मीठा कर दो, जिस से रही-सही कटुता भी नष्ट हो जाय। द्वेष का नाश हो जाय। मानव-समाज में मित्रता का राज्य हो। मनुष्य आपस में भाई-भाई हो जायें। सब एक दूसरे का यशोगान करें। सब यशःस्वरूप हों। निन्दा, चुग़ली, ईर्ष्या—ये सब द्वेष के विभिन्न रूप हैं। तुम्हारे प्रेम के संचार से हृदय शुद्ध हो जाते हैं।

प्रभो ! हमारे हृदयों को शुद्ध करो। हम यशोगान के

सतत वहने वाले स्रोत वन जायें। मुदिता, मैत्री, प्रेरणा, प्रोत्साहन—इन सद्‌गुणों से हमारे आचार, विहार, व्यवहार सब को आभूषित कर दो। सामाजिक जीवन की संजीवनी यशोगान है। हम एक दूसरे का यश ले उड़ें। दूसरे की बड़ाई हमें अपनी बड़ाई प्रतीत हो। हम यशोगान की मूर्त्तियाँ वन जायें।

धर्म-मेघ का आवाहन

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे।
१ २ ३ ३ १ २
पवमान स्वर्दृशम् ॥५॥

ऋषिः—भृगुः=तपस्वी।

(**पवमान !**) हे पवित्रता के पुतले ! (**वृषा हि असि**) तुम धर्म-मेघ ही तो हो। (**भानुना द्युमन्तम्**) एक अलौकिक प्रकाश से चमक रहे (**त्वा स्वर्दृशम्**) तुझ आत्मदर्शी को (**हवामहे**) हम प्रजाजन पुकार-पुकार कर बुलाते हैं।

धर्म-मेघ प्रजाओं का प्यारा होता है। वही जल जो मोरियों और गलियों में सड़ रहा था, सूर्य के प्रताप से तप-तप कर वाष्प वन गया है। पृथिवी का पानी पृथिवी से ऊपर उठ गया है। उस का सवन हुआ है। अब वह कैसा निर्मल है ! लो ! वह हवा के कन्धों पर चढ़ गया। अब उस का सिंहासन आकाश पर है। चांद से, तारों से, सूर्य

से उस की रात दिन अठखेलियां हैं। जिस पृथिवी ने उसे कुछ दिन पूर्व सन्तप्त कर अपने से दूर हटा दिया था, अब वही पृथिवी आँखें उठाये उस की बाट जोहती है। पृथिवी का गला सूख गया है। उस से आवाज़ नहीं निकल सकती। मंगलमय मेघ ! बरसो ! सूखी भूमि की छाती फिर से हरी कर दो।

ऐसे ही, योगी इन्हीं गलियों, बाजारों में बसने वाला साधारण मनुष्य ही तो था। उस ने प्रकाश का रास्ता लिया। तपस्या की किरणों पर सवार हो गया। ऊँचा उठा। देव-यान का यात्री बना। अब मानो वह इस जमीन का वासी ही नहीं। उसे जितनी आँच दो, वह उतना अधिक चमकता है, उड़ता है। उस की आकृति ही तेजोमय है। उस के मुख-मण्डल पर एक विशेष प्रकाश है। श्याम-वर्ण धर्म-मेघ चांद सूर्य की झाँकियों का झरोखा बन रहा है।

उस की आँखों में सपनों का स्वर्ग बस रहा है। जो बात साधारण जनों की आँखों से ओझल है, वह उस अध्यात्म के द्रष्टा के आगे प्रकट है। स्थूल जगत् उस की दृष्टि में एक सूक्ष्म संसार का बाह्य रूप है। उस की दुनिया भावनाओं की, आशाओं की, दिव्य व्यवस्थाओं की दुनिया है।

यह पृथिवी दिव्य तत्त्व के किसी ऐसे ही द्रष्टा, धर्म के मर्म का साक्षात् दर्शन कर रहे ऋषि की प्रतीक्षा कर रही है। रुँधे हुए गले से पुकार-पुकार कर आह्वान कर रही है।

विश्व-रथ का रथी

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः ।
३ २र२र३ १ २
सृजदश्वं रथीरिव ॥ ५ ॥

ऋषिः—कश्यपः = द्रष्टा ।

(कवीनां प्रियः) क्रान्तदर्शी ऋषियों का प्यारा (मतिः) विचार (चेतनः इन्दुः) चेतन संजीवन-रस बन कर (पविष्ट) प्रवाहित हो रहा है । (रथीः इव) मानो रथवान् ने (अश्वम्) घोड़े को (सृजत्) तैयार कर दिया है ।

ऋषियों का दर्शन अकारथ नहीं जाता । उन के हृदय का विचार प्रभु का विचार होता है । वे उस विचार से प्यार करते हैं । अपने हृदय के कानों से सुन कर उस का दिन रात मनन करते हैं । प्रभु का संदेश उन के अंग-अंग में समा जाता है । उन की आँखों में, उन की वाणी में, भाव-भंगी में, उन के हाव-भाव में उस विचार की झाँकी मिलती है । उन का संपूर्ण जीवन उस विचार का मूर्त रूप होता है । जब वे उसे प्रकट करते हैं तो उस में जान होती है । उन की बात-बात में एक अलौकिक स्फूर्ति—एक अद्भुत सुधा सी—पाई जाती है ।

जैसे रथवान् के, रथ पर आते ही घोड़ा चल देता है, बिना चाबुक चलाये उस की नस-नस में वीर-रस का संचार हो जाता है, ऐसे ही किसी आत्मदर्शी के रंगमंच पर

आते ही श्रोता झूम जाने को मानों पहिले से ही उद्यत होते हैं। उन्हें अपने शरीर की चिन्ता नहीं रहती। वे सच्चे नेता को पहचानते हैं। वह जिधर चाहे, उन की बाग-डोर खींच दे। वे उधर ही चल देंगे।

ऋषि पहिले आत्म-संयम करता है। इन्द्रियों को, प्राणों को, संपूर्ण शरीर के प्रत्येक अंग को वह आत्मा के वश में कर लेता है। फिर उसी आत्मा का विस्तार, संपूर्ण जगत् में कर धार्मिक दिग्विजय की दिव्य यात्रा पर निकल खड़ा होता है। विश्व की शक्तियाँ उस की इन्द्रियाँ बन जाती हैं, विश्व के प्राण उस के प्राण हो जाते हैं। वह संपूर्ण संसार को ऐसे हाँकता है जैसे सारथि घोड़े को। रथवान् और घोड़े के बीच में एक विशेष चुम्बक होती है। घोड़ा रथवान् पर अपने प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहता है तो रथवान् की भी जान तक घोड़े के प्राणों में अड़ी रहती है। इस अपूर्व स्नेह का रहस्य है एकात्मता। घोड़े की रक्षा रथवान् जी-जान से करता है, घोड़ा उस का सर्वस्व है। ऐसे ही, सुधारक के लिये संपूर्ण विश्व है। वह विश्व का आत्मा हो जाता है। छोटे आत्मा छोटे शरीरों को अपनी आन्तरिक चुम्बक से चलाते हैं, महान् आत्मा इन महान् देह में अपनी संजीवनी का संचार करते हैं। विश्व रथ है, ऋषि उस के सारथि। और हम इस विश्व-रथ के घोड़े।

व्यापक सोम

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।
३ १ २ ३ १र २र
शुक्रासो वीरयाशवः ॥६॥

ऋषिः—कश्यपः = द्रष्टा ।

(शुक्रासः) शुद्ध (सोमासः) संजीवन-रस का संचार करने वाले (अश्वया) व्यापक (वीरया) वीर-रस-सम्पन्न (गव्या) वाणी द्वारा (वाजिनः) शक्तिशाली हो कर (आशवः प्र-असृक्षत) व्यापक प्रभाव वाले हो गये ।

सन्त अपनी संजीवनी का प्रभाव अपने तक ही परिमित नहीं रखता । उस का सम्बन्ध संजीवन के स्रोत से हो गया है । उस की अपनी संपूर्ण सत्ता रसमय है, पवित्र है, तेज से, शक्ति से सम्पन्न है । उस ने स्फूर्ति के मूल स्रोत से विशेष स्फूर्ति प्राप्त की है । उस के लिए स्वार्थी होना असंभव है । वह अपनी स्फूर्ति औरों को दिये विना नहीं रह सकता ।

उस की वाणी में जादू है । उस की सत्ता के विस्तार का साधन उस का उदार क्रियात्मक उपदेश है । उस की पवित्रता छः फ़ीट के शरीर में सीमित कैसे रह सकती है ? उस के प्रवचन में व्यापकता का गुण है । विघ्न-वाधाओं को छिन्न-भिन्न करता हुआ वह चारों दिशाओं में फैल रहा है ।

सन्त के प्रभाव का क्षेत्र दिनों दिन बढ़ता ही जाता है। वास्तविक वीरता उसी की है। अपनी वाणी के प्रहार से वह सब दुर्गुणों को जीतता जाता है। कोई संकोच, कोई कृपणता उस के उपदेश के आगे ठहर नहीं सकती। शुद्ध लोक-हित की भावना से किया गया उपदेश द्वेष का—वैर-भाव का झट नाश कर देता है। शत्रुओं तक को मित्र बना लेता है। साईं लोगों की महिमा को कोई क्या कहे। ज्यों-ज्यों समय बीतता है, त्यों-त्यों उन की आध्यात्मिक संजीवनी का संचार अधिक तेज़, अधिक व्यापक होता जाता है। प्रभु के प्यारे, संपूर्ण प्रजा के प्यारे बन जाते हैं, यहाँ तक कि सारा विश्व उन्हीं के रंग में रँग कर उन का अनुरक्त सा हो जाता है। विचारक उन के विचार के अनुकूल ही विचार करने लगते हैं। प्रचारक उन के प्रचार के अनुसार ही प्रचार करते हैं। ऐसे ही लोगों को नवयुग का कर्ता, नये विश्व का प्रवर्त्तक कहा जाता है।

यही लोग "शुक्र" हैं, "वाजी" हैं, "आशु सोम" हैं। प्रभो! क्या हम भी ऐसे "सोम" नहीं हो सकते? हमें अपने वाज से वाजी, अपनी शक्ति से शुक्र, अपने सवन से सोम बनाओ। यह नहीं तो उन सोमों का अनुरक्त ही सही। हम उन के रंग में रँग जायें।

वायु के घोड़े पर सवार

१ २   ३१   २ ३   १र २र   ३ १ २
पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
३ १र   २र १ २
वायुमारोह धर्मणा ॥ ७ ॥

ऋषिः—निध्रुविः = निश्चित ध्रुव ।

(देवः) तू दिव्य रस है। (आयुषक्) निरन्तर (पवस्व) प्रवाहित हो। (ते) तेरा (मदः) आह्लाद (इन्द्रम्) इन्द्रियों के राजा को (गच्छतु) प्राप्त हो। (धर्मणा) धर्म के द्वारा (वायुम्) वायु पर (आरोह) सवार हो जा।

ईश्वर की कृपा का अनुभव एक ऐसा अमृत है जिस की उपमा किसी सांसारिक रस से नहीं हो सकती। वह अनुभूति अलौकिक है । प्रभु की महिमा का दर्शन ही तो वास्तविक दर्शन है । जब एक बार यह रस नस-नस, नाड़ी-नाड़ी में वह निकला. फिर तो इस का प्रवाह रुकने का नहीं । कोई कार्य करता रहूँ, यह न रुकने वाला स्रोत वहता ही जाता है। मेरे साधारण जीवन को इस ने अपने रंग में रँग लिया है। मेरा खाना, पीना, खेलना, कूदना, उठना, वैठना—सब उपासना-रूप हो गया है। एक मस्ती है कि हमेशा सिर पर सवार रहती है। हाथ काम करते जाते हैं, हृदय जाप करता रहता है। बिना प्रयत्न के अपने आप प्रभु का चिन्तन होता जा रहा है । मैं खाता इस लिए हूँ कि प्रभु के काम के लिए यह शरीर बना रहे।

ऐसा खाना प्रभु की पूजा नहीं तो और क्या है ? इस प्रकार मेरा सारा क्रिया-कलाप प्रभु के अर्पण है ।

यह नशा मेरे प्राणों पर सवार हो गया है । मेरे देह का धर्म बन गया है । आत्मा के स्वभाव में आ गया है । अब मैं सोऊँ, जागूँ, उठूँ, बैठूँ, मेरा हृदय झूमता ही रहता है ।

प्रभु के प्रेम के दीवाने ! यह तेरा धर्म है कि अब तू हवा के घोड़े पर चढ़ जाय । जो नशा तेरे आत्मा में है, तेरी इन्द्रियों में, तेरे प्राणों में है, उसे तू अपने तक परिमित कैसे रखेगा ? तू धर्म-यात्रा कर । आत्माह्लाद का औरों के हृदयों में संचार कर । अपनी मस्ती का मस्ताना सारे संसार को बना । हवा के झोंके तेरी मस्तानी रागिणी से झूम उठें । गा ! गा !! मस्ताने गायक ! गा ! आकाश-पाताल को अपने गीत से गानमय कर दे ।

वैश्वानर बिजलियाँ

१२ ३ २ ३ १र २र ३ २
पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम् ।
१ २ ३२ ३ २
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥ ८ ॥

ऋषिः—अमहीयुः=पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेने वाला।

(पवमानः) पवित्रता के पुतले ने (दिवः) द्युलोक की, (तन्यतुं न) विद्युत् की तरह (चित्रं, बृहत्, वैश्वानरं

ज्योतिः) विचित्र, महान्, सर्वजनीन ज्योति को (अजीजनत्) जन्म दिया है।

धर्म-मेघ अपनी धर्म-यात्रा द्वारा आध्यात्मिक पवित्रता का प्रवाह-सा ला रहा है। उस के प्रचार से व्यक्तियों तथा समाजों के सदियों के संचित हुए हुए मल धुले जा रहे हैं। धर्म के प्रति मनुष्यों तथा मनुष्य-सम्प्रदायों की उदासीनता मिटती जा रही है। सूखापन हट कर उस के स्थान में एक अलौकिक हरियाली सी आ रही है। हृदय लहलहा उठे हैं। उन में स्नेह का संचार हो रहा है।

पुण्य कार्यों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। सदाचार की ओर स्वाभाविक झुकाव सा होता जाता है। पाप पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता ही नहीं रही।

सामाजिक कुरीतियां दूर होने लगी हैं। मनुष्य मनुष्य पर अत्याचार करना छोड़ रहा है। ब्राह्मण की शूद्र के प्रति, पुरुष की स्त्री के प्रति, शासक की शासित के प्रति मनोवृत्ति ही बदलती जाती है। शासन का स्थान सेवा ले रही है। गौरव सेवा कराने में नहीं, सेवा करने में समझा जाने लगा है। व्यक्तियों तथा समुदायों को अधिकार की उतनी चिन्ता नहीं रही जितनी कर्तव्य की। कर्तव्य-पालन सब से बड़ा अधिकार है। लोक-हित में सब से अधिक गौरव है इन भावनाओं के प्रचार से समाज की काया-पलट सी होती जाती है।

जिन-जिन दिशाओं में पहले अन्धकार ही अन्धकार

था, वे सब दिशायें अब एक नये, अद्भुत प्रकाश से चमचमा उठी हैं। नई उमङ्गें नये उल्लास ला रही हैं। नई आशायें नया उत्साह पैदा करती जाती हैं। जैसे भौतिक जल की वृष्टि के समय भौतिक बिजलियाँ चमकती हैं, यही दशा आध्यात्मिक आकाश में धर्म-मेघ के प्रादुर्भाव के समय होती है। न जाने कहां से अन्धकार में ज्योति की झलकियाँ होने लगती हैं। दिव्य आकाश, दिव्य वृष्टि, दिव्य बिजलियाँ, सारा दृश्य ही दिव्य हो जाता है।

धर्म-मेघ की ज्योति वैश्वानर होती है अर्थात् सम्पूर्ण मानव-समाज में एक नई उषा—नये दिन का उदय करने वाली। वेद इस नये युग के उदय होने का स्वागत करता है। भगवती श्रुति का उद्देश्य ही इन नये युगों का बार-बार लाना है। वैदिक सोम का आध्यात्मिक सवन यही है।

मधु की धार

परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा।
मधो अर्पन्ति धारया ॥९॥

ऋषिः—असितः=बन्धन-रहित।

(इन्दवः) वेद-रस से मस्ताने वाले (मदाय) मस्ती के लिए (बर्हणा गिरा) महती वेद-वाणी द्वारा (स्वनासः) गीत गा-गा कर (मधो धारया) मधु की धार के साथ (परि-अर्पन्ति) चारों ओर घूमते हैं।

सन्त का घर सारा संसार है। वह जिस भक्ति-रस में भीज रहा है, उस का आस्वादन वह सारे संसार को करा देगा। अपनी मीठी वाणी से वह संसार-भर में मिठास का सञ्चार करता है। वह मधु-मक्षिका है जो स्वयं मधु का उपभोग कर संपूर्ण मानव-जाति को भी उस का उपभोग कराती है। वह मधु की लहरें वहाती है।

भक्त के हृदय में जब प्रभु की वाणी का स्रोत उमड़ उठा, तो फिर वह चुप कैसे रह सकता है? उस की नस-नस, नाड़ी-नाड़ी तन्त्री-सी बन रही है। वह अब विश्व-वीणा का तार है। वीणा वज रही है। वह आलाप को कैसे रोके? गाना उस का अनायास स्वभाव है। वह गाता है, और चारों दिशाओं में मधुरता का सञ्चार करता है।

उस का चाँद-सा मुखड़ा जहाँ कहीं भी उदित हो जाता है, दर्शकों के चित-चकोर, उस के दर्शन-मात्र से निहाल हो जाते हैं। उस की जादू-भरी भोली मुस्क्यान, उस की प्रेम-रस से परिपूर्ण निष्कपट दृष्टि सारे मानव-समाज के हृदयों में स्नेह-रस की चाँदनी-सी छटका देती है। उस का एक-एक कटाक्ष, सौ उपदेशों का एक उपदेश होता है। उस के आचार में, व्यवहार में, प्रत्येक चेष्टा में गान रहता है। सोम-रस के पुतलों के पास सोम के सिवाय और है ही क्या? वे सोम-रस ही का पान करते हैं और सोम-रस ही का गान। प्रभो! हम ऐसी मधुमक्षिका कब होंगे? हमारे हृदयों के कटोरों से आप के प्रेम की सुधा कब छलकेगी?

हम चन्द्रमा बन कर चाँदनी छटकायेंगे। सम्पूर्ण संसार को वेद के आलोक से आलोकित करेंगे। भगवती श्रुति का यह पुण्य आशीर्वाद सफल होगा, होगा, अवश्य होगा।

ओह! हमारा वह मंगल-रूप! वह मंगल-तान! सुधा में संगीत! संगीत में सुधा! निरन्तर गा रहे सुधाकर! स्वनास इन्दवः। ध्यान-मात्र से चित्त प्रसन्न हो रहा है।

लहर पर सवार

२ ३ १ २ ३ २र २र ३ १र २र ३ २
परिप्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।
३ १र २र ३ १ २
कारुं बिभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥

ऋषिः—असितः = बन्धन-रहित।

(सिन्धोः) समुद्र की (ऊर्मौ) लहर पर (अधिश्रितः) सवार हुआ हुआ (कविः) क्रान्तदर्शी (पुरुस्पृहम्) लोक-प्रेम की (कारुम्) तन्त्री को (बिभ्रत्) उठाये हुए (परिप्रासिष्यदत्) चारों ओर बह गया।

जो मनुष्य आत्मदर्शी हो गया, जिस का विचार अपने आप तथा अपने कुटुम्ब आदि के हित तक परिमित न रह कर सारे ब्रह्माण्ड पर व्याप्त हो गया, वह मानो अपनी भावना की लहर पर सवार हो गया। उस के हृदय-समुद्र में निरन्तर लोकोपकार कीतरंगें उठती रहती

हैं और वह उन तरंगों की गोद में बैठा हुआ कभी इधर कभी उधर बहता जा रहा है। उस का जीवन एक सुरीला राग हो गया है। विश्व-प्रेम की तानें उस के अंग-अंग से उठ रही हैं। अब उसे किसी साज़ की, सामान की आवश्यकता नहीं रही। उस के योग-क्षेम—प्रत्येक दिन के अन्न-पान आदि—का प्रबन्ध तो प्रभु स्वयं कर ही देंगे। जैसे जंगल का पक्षी बिना किसी चिन्ता के हवा के झकोरों में उड़ता फिरता है, वह गाता है, चहचहाता है, उस के शरीर की यात्रा, जंगल में उग रहे फल-फूलों से, अपने आप हो जाती है, यही अवस्था प्रभु के प्यारे की है। उसे किसी सम्पत्ति का सञ्चय नहीं करना। अपने आप को रुपये पैसे का चौकीदार नहीं बनाना। वह गगन-विहारी बादल है जो उड़ता है, फिरता है, लोक-लोकान्तर, देश-देशान्तर की सैर करता है, गरजता है, बरसता है, प्रभु-भक्ति का गीत सारे संसार के कर्ण-कुहर में डालता है।

उस की वाणी में जादू है। लोग विरोध के लिए जाते हैं और उस के राग के मद से मस्ताने हो जाते हैं। उस का गीत उन के हृदयों में मानो घर करता जाता है। जिस सन्देश को कटु समझ कर उस के विरोध की आयोजनाएँ कर रहे थे, वह सन्देश सुनने पर मधुर प्रतीत होने लगता है। हृदय कह उठता है—यह राग मेरा है। जिन्हें अध्यात्म का ज्ञान नहीं, जो सामान्य पण्डितों के मुख से आत्मा परमात्मा की चर्चा सुनने पर हँसी उड़ाते थे, मख़ौल करते

थे, सन्त के मुख से वही चर्चा सुन कर झूमने लगते हैं। दिल से निकली हुई बात दिलों ही में प्रवेश कर जाती है, मानो किसी अन्दर की तह को हिला देती है। हृदय विवश हो कर बोल उठता है—वाह ! वाह !! तर्कणा साथ दे, न दे भावना इस राग को अपनाती है और अपने मीठे सुरीले स्वरों के पंखों पर ले उड़ती है। सन्त के मुख से निकला हुआ वाक्य फिर-फिर दोहराया जाता है। अर्थ पीछे समझ में आता है। उस के अक्षरों की रचना में ही कोई मोहिनी-सी प्रतीत होती है जिस के लिए भावुक प्रजा के हृदय लालायित होते हैं।

यह कहानी संसार के इतिहास में लाखों बार दोहराई गयी। वही हृदय-"सिन्धु" है। उस की "ऊर्मियां" हैं—लहरें हैं। वही पुरानी लहरें हैं जो नित नई हैं। इन लहरों की तन्त्री पर, हे मेरे जीवन-गान के गवैये ! मुझे बैठा दे। इस झूलने के झकोरों में मुझे झुला दे। मुझे अपनी सारी सुध-बुध बिसरा दे। हां ! अपना मस्ताना, अपना दीवाना बना दे। एक बार, एक पल, एक क्षण !

ओ३म्

तृतीय खण्ड

गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

लचकीला शिष्य

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
उपोषु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
१ २ ३ १ २
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥१॥

ऋषिः—अमहीयुः = पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेने वाला।
(देवाः) दिव्य-स्वभाव मनुष्यों ने (गोभिः परिष्कृतम्) उपदेशों द्वारा परिष्कृत (सुजातम्) सुधारे सँवारे गये, उत्तम कुल-जात (अप्तुरम्) जल की तरह लचकीले (इन्दुम्) रसीले (भङ्गम्) विनय-भाव को (उ उप-अयासिषुः) निकट जा-जा कर प्राप्त कर ही लिया।

मनुष्य विनय से देव बनता है। वह विद्या विद्या नहीं जिस से विद्यार्थी का स्वभाव विनीत न हो। पुस्तकों के पाठ से मानसिक ज्ञान तो मिल सकता है परन्तु शील की शिक्षा शिष्ट पुरुषों के सत्संग से ही मिलती है। उन्हें उठते-बैठते

देखने से, उन के उपदेशामृत का पान करने से, उन की डाँट-डपट सहने से शिष्य सुजात—सुघड़—बनता है। उस में कुलीनता आती है। प्राचीन समय में गुरुकुलों की स्थापना इसी लिए की गई थी कि विद्यार्थियों में कुलीनता आये। वे गुरुओं के कुल में रहें। कुल की मर्यादा सीखें। उन में शिष्टता हो। यही उन का दूसरा जन्म है।

सूखा काठ झुकता नहीं। उस में लचक का अभाव रहता है। वह हठ का, ऐंठ का, घमण्ड का प्रतिनिधि है। इस के विपरीत जल। इस में रस है, कोमलता है। यह पात्र के अनुकूल ही अपनी आकृति बना लेता है। जहां उठना उचित होता है, वहां उठ जाता है। जहां बैठना आवश्यक है, बैठ जाता है। ये उतार-चढ़ाव विनीत प्रकृति के गुण हैं। वास्तव में जीवन नाम ही लचक का है, सौम्यता का है।

बिना विनय के विद्या रूखी है। उस में रस नहीं। वह मृत है, उस में जीवन नहीं। जल सौम्य होता है। ऐसे ही शिष्ट जनों के चरणों में बैठ चुका कोई विनीत शिष्य।

विनय की प्राप्ति बार-बार गुरु-जनों के निकट जाने से—उन की प्रयत्न-पूर्वक सेवा करने से—होती है।

प्रभु का भक्त विनय का पुतला होता है। वह प्रभु की प्रजा से प्यार करता है। उस के स्वभाव में ही मिठास रहता है। क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष उस के पास फटकते तक नहीं। फल से लदी हुई शाखा के समान वह सदैव नीचे को झुकता है। वह उपकार करता है और उन से तृप्त नहीं

होता। इस अतृप्ति से वह सदैव विनम्र-सा—लज्जित-सा रहता है। दिल कहता है—अभी कर्तव्य पूरा नहीं हुआ। सर्वस्व समर्पण करने पर भी जी यही चाहता है कि कुछ और अर्पण करूँ। रहिमन ने कहा है:—

देने वाला और है, जो देता दिन रैन।
लोग मुझे दानी कहें, इस से नीचे नैन॥

विप्र का आक्रमण

पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥२॥

ऋषि:—अमहीयुः = पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेने वाला।

(विचर्षणिः) तत्व-दर्शी ने (पुनानः) पवित्रता का प्रचार करते-करते (विश्वाः मृधः) सभी संघर्षों—सब प्रकार के संग्रामों पर (अभि-अक्रमीत्) धावा बोल दिया। प्रजायें (धीतिभिः) कर्म तथा ज्ञान द्वारा (विप्रम्) इस मेधावी-जन का (शुम्भन्ति) अभिनन्दन करती हैं।

संसार संघर्ष का घर हो रहा है। राजा का प्रजा से, पिता का सन्तान से, पुरुष का स्त्री से, पूंजी-पतियों का मज़दूरों से संघर्ष ही संघर्ष हो रहा है। सब ओर से अधिकार-अधिकार की पुकार सुनाई दे रही है। विकास-वादी कहता है—जीवन का मर्म संग्राम है। इसी से

उत्तरोत्तर उन्नति—उत्क्रान्ति—होती है। पशु पशु के साथ, मनुष्य मनुष्य के साथ जुट रहा है—जूझ रहा है। विकास-वादी का कथन है—इस से लाभ होगा, उत्तरोत्तर विकास होगा।

जातियां जातियों पर, राष्ट्र राष्ट्रों पर गोले बरसा रहे हैं। जल से, थल से, आकाश से, पाताल से गोलों की वर्षा हो रही है। शक्ति-वादी कहता है—इस प्रक्रिया से अति-मानव (देव) पैदा होगा।

तत्व-दर्शी ऋषि जिस ने आत्मा का दर्शन किया है, वह न विकास-वादी से सहमत है न शक्ति-वादी से। उस की दृष्टि में प्रभु की सृष्टि के विकास का सूत्र प्रेम है, सहयोग है, दया और उपकार है। आत्मा के संसार में यही, उत्क्रान्ति की—उन्नति की—सीढ़ियाँ हैं।

राजा प्रजा-जनों को ही राज्य दे दे। इस से वह राजाओं का राजा—महाराज—बन जायगा। पूंजी-पति श्रमियों को अपने लाभ का हिस्सेदार बना दे। ऐसा करने से वह उन से अधिक काम ले सकेगा। स्त्री-पुरुष के सहयोग से गृहस्थ चलेगा, मानव-जाति की वृद्धि होगी, सुख-सम्पत्ति की उन्नति होगी। जातियों के मेल से सम्पूर्ण मानव-जाति का उद्धार होगा। जो शक्ति आज जन-क्षय में लग रही है, वह अभ्युदय में लगाई जायगी। ऋषि दयानन्द का चक्रवर्ती राज्य का सपना यही था। कलह-कोलाहल में शान्ति कहां है? शान्ति के बिना सुख-समृद्धि जल-मरीचिका है।

प्रभु का प्यारा अपने स्वाभाविक स्नेह से संसार को स्नेहमय बना डालता है। वह समाज की अन्याय-पूर्ण विषमताओं को मिटाता है। राष्ट्र को एक नये ढाँचे में ढालता है। समाज का विभाग गुण-कर्म के अनुसार कर जन्माभिमानियों के अत्याचार को दूर करता है। वह लोगों को कर्त्तव्य-परायण बनाता है। उन्हें कृतज्ञता सिखाता है। लोग अपनी त्रुटियों को देखते हैं और विनम्र हो जाते हैं। भक्त लोक-सेवा की गंगा बहा देते हैं। उस में स्नान कर जी नहीं अघाता।

ऐसे प्रेम के पुतले का सत्कार जनता की उठती हुई आशायें, फैली हुई भुजायें, उन्मुख-नयन, गान गा रहे कण्ठ करते हैं। सर्व-साधारण के आचार-विचार पर उस तत्वदर्शी के संदेश की छाप पड़ जाती है। वही उस का सच्चा क्रियात्मक अभिनन्दन है। राम का, कृष्ण का अभिनन्दन इसी प्रकार हुआ था। और ऋषि दयानन्द का ?

इन्द्र को इन्दु का पुरस्कार

३ २ ३१२ ३२ ३ १२ ३१र २र
आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः।

३१ २
इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥३॥

ऋषिः—जमदग्निः = चलती फिरती आग।

(कलशम्) मीठी-मीठी मूक ध्वनि से गुनगुना रहे [हृदय-रूपी] मटके को (आविशन्) आविष्ट कर, प्रेम-भाव से भर,

(सुतः) पैदा हुआ (इन्दुः) संसार-भर को सरसा रहा संजीवन-रस (विश्वाः श्रियः) सब विभूतियों को (अभि-अर्यन्) सब ओर से समेटता हुआ (इन्द्राय) इन्द्रियों के राजा को (धीयते) भेंट किया जा रहा है।

मोहन ! मेरा हृदय छलक रहा है। इस में मीठी-मीठी गुंजार उठ रही है। कल-कल करती प्रेम की गंगा वह रही है। सच कहना, यह गुंजार किस की है ? क्या तुम्हीं मेरे हृदय-कलश में बैठ हल्की-हल्की जलतरंग-सी बजा रहे हो ? यह लहरें—यह तरंगें क्या तुम्हारे करुणा-सिन्धु की हैं ?

मेरा हृदय आविष्ट है। उस में बिजली सी दौड़ रही है। क्या इस मीठी विद्युत् का सञ्चार करने वाले तुम्हारे मृदु मधुर हाथ हैं ? इस विद्युत् से एक रस पैदा हो रहा है। मेरा रोम-रोम इस रस में डूबा जा रहा है। इस रस में कैसी मिठास है ? कैसा सात्विक उन्माद है ? मैं इस रस में डूबा अपने तन मन की सुध विसरा रहा हूँ।

देखना ! देखना !! यह रस मुझ ही तक परिमित नहीं। मेरे हृदय-कलश तक, मेरी नस-नस नाड़ी-नाड़ी तक परिमित नहीं। यह रस तो संसार-भर का संजीवन-स्रोत है। संसार-भर की विभूतियाँ इसी रस की करामात हैं। सूर्य का प्रखर प्रकाश, चाँद की भोली मीठी मुस्क्यान, ऊषा की लाली, सन्ध्या का सेन्दूर सब इसी रस की रंग-बिरंगी तसवीरें हैं।

पत्ते-पत्ते में रोमाञ्च है। डाल-डाल के देह पर सात्विक स्वेद है। पशु-पक्षी सभी मस्त हैं।

और मेरा हृदय ? अब तो सारा विश्व ही मेरा हृदय हो रहा है। हरी घास की पत्ती-पत्ती मेरा रोंगटा है। मेरे हृदय की गुंजार विश्व-वीणा की गुंजार है। जो तान मेरे अन्दर से उठती है, वही बाहर से सुनाई देती है। जगत् सोममय है। मेरे सोम का सवन जगत्-भर के हृदय-कलश में हो रहा है।

लो ! फूलों ने अपनी प्यालियाँ भर लीं। तारों ने अपनी किरणों के चमसों में वही नशीला रस डाल मेरे आगे किया। कोकिल की कूक में, पपीहे की पी-पी में, वही मधुर गुञ्जार सुनाई देने लगी। पवन ने यह गुञ्जार का कलश मेरे कानों में उँडेल दिया है।

आम का बौर महक उठा, करने की कली चटक पड़ी। सब ने एक स्वर में कहा—यह रस इन्द्र के लिए है—इन्द्रियों के स्वामी के लिए। यह अनमोल भेंट आत्म-संयम का पुरस्कार है। संसार का राज्य इन्द्रियों के राजा के लिए है। सब से बड़ा राज्य स्व-राज्य है—अपने तन तथा मन का राज्य।

प्रभो ! क्या मैं सचमुच इन्द्र हूँ ? सच्चे इन्द्र तो तुम्हीं हो और इसी लिए विश्व का राज्य भी तुम्हारा है। मैं इन्द्र-पुत्र हूं। इसी से संसार मुझे इन्द्र कहता है। पुत्र की लाज पिता को है। बुरा हूँ, भला हूँ, तुम्हारा हूँ। तो हे परम-

पिता ! तुम मुझे अपना बना ही लो। तुम बड़े इन्द्र हो। मुझे छोटा—आंशिक, एकदेशी इन्द्र ही बना दो। मैं भी तो तुम्हारे राज्य का उपभोग करूँ। क्या यह सम्पूर्ण सोम-रस, पत्ती-पत्ती से छलक रहा सोम-रस अकारत जायगा? और नहीं, अपने सोम की सफलता ही के लिए मुझे इस का पात्र बना दो। मेरा हृदय छलका दो, मेरे मुख से यह नशीली प्याली लगा दो, लगा दो, लगा दो !

अमर योद्धा

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ २
असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः।
१ २ ३ १ २
कार्ष्मन्वाजी न्यक्रमीत् ॥ ४ ॥

ऋषिः—प्रभूवसुः = धनाढ्य।

(यथा) जैसे (चम्वोः सुतः) कटोरों से पैदा हुआ सोम-रस (पवित्रे) चलनी में उतरता है, इसी प्रकार [चम्वोः सुतः] आकाश तथा पृथ्वी की कोख से प्रकट हुआ (वाजी) वीर्यवान् ज्ञानी (कार्ष्मन्) संग्राम में (न्यक्रमीत्) उतरा है। वह (रथ्यः) रथ हांकने के योग्य योद्धा (असर्जि) हो गया है।

ब्रह्मचारी आचार्य की देख-रेख में दूसरा जन्म पाता है। प्रभु का भक्त अपने गुरु की गोद में पालित-पोषित

हो कर सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। वह सौम्य है अर्थात् सोम-रस का पात्र। जैसे कटोरों में सोम-रस का परिपाक होता है, ऐसे ही इस रस के पुतले का परिपाक पृथ्वी तथा द्युलोक ने मिलकर किया है। ईश्वर का प्रेम ज़मीन और आसमान से टपक-टपक कर ब्रह्मचारी के हृदय में सञ्चित हुआ है। प्रभु-भक्त के पिता-माता आकाश और पृथ्वी हैं। वह विश्व का लाल है।

गुरु की कृपा ने उसे ज्ञान की सम्पत्ति दी है। आत्म-संयम ने उसे वीर्यवान् बनाया है। वह "वाजी" है—ज्ञानवान्, वीर्य-सम्पन्न।

अब उसे रथ में जोता जा सकता है। घर-गिरस्थी के रथ में चाहे, तो गृहस्थ हो जाय और लोकोपकार का व्रत ले ले तो संन्यासी हो जाय। दोनों अवस्थाओं में उसे संग्राम तो करना ही होगा। राग के, द्वेष के, भ्रान्तियों तथा कुरीतियों के विरुद्ध संग्राम ही तो करना होगा। जीवन नाम ही संग्राम का है। किसी ने निजू जीवन का संग्राम किया, किसी ने सार्वजनिक जीवन का। दोनों से लोक-हित होता है। ब्रह्मचारी से संन्यासी बनने का अधिकार किसी विरले को ही होता है।

कोई गृहस्थ बने चाहे संन्यासी, प्रभु-भक्ति का अभ्यास दोनों को करना चाहिये। दोनों इस सोम-रस का पान करें, तभी "वृत्र" से—भोग की अनुचित प्रवृत्ति से संग्राम कर सकते हैं। प्रभो! पाप की सेना प्रबल हो रही है। मुझे

अकेले इस के आगे डटना है। लाख से एक को लोहा लेना है। आप हमें वह अमृत दीजिये जिसे पी कर मस्त योद्धा निश्चिन्त, निधड़क जूझ जाता है और जीवन तथा मरण दोनों अवस्थाओं में विजय पाता है। हमें द्युलोक का पुत्र बनाओ, पृथ्वी का पुत्र बनाओ। दोनों ओर से हम पर "वाज" की—ज्ञान तथा बल की वर्षा हो। हम विजयी वीर बनें।

काली केंचली

२उ ३ १ २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रयद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः।
१ २ ३ २उ ३ १२
घ्नन्तः कृष्णामपत्वचम् ॥५॥

ऋषिः—मेध्यातिथिः = पूज्य अतिथि।

(कृष्णाम्) अन्धकार की काली (त्वचम्) केंचली को (अपघ्नन्तः) उतार फेंकते हुए (अयासः त्वेषाः) प्रकाश के चलते फिरते पुतलों ने (यत्) कैसा (प्र-अक्रमुः) पराक्रम किया (न) जैसे (भूर्णयः) सतत भ्रमण करने वाली (गावः) किरणों ने।

प्रभो! आप की कृपा से हमें कुछ-कुछ ज्ञान मिल गया है। ज्ञानी प्रकाश का पुंज होता है। जिस की आत्मा जग गई वह चलता फिरता प्रकाश ही तो है। तुम्हारे निरन्तर ध्यान से

हम अपने अन्दर प्रकाश की कोई-कोई रेखा-सी अनुभव करते हैं। अभी तो हम पूरे ज्ञानी हुए ही नहीं। ज्योति की कोई-कोई किरण हमारे अन्तःकरण में उदय हो रही है। ओह ! क्या सुन्दर उषः काल है। अन्धकार मिट रहा है। प्रकाश हृदय-कुहर में झांकियाँ देने लगा है। आज हमारे जीवन का पुण्य प्रभात है। जव तक सोये थे, सोये थे। गति का ध्यान ही न था, शक्ति ही न थी। जगने लगे तो हिले-जुले भी। प्रकाश की किरण निठल्ली कहाँ रह सकती है। अव हमें लेटे-लेटे चैन नहीं पड़ती। अव रात की काली केंचली है और तुम्हारी प्रदान की हुई जागृति की चञ्चल किरणें। केंचली उतर रही है, किरणें प्रकट हो रही हैं। प्रकाश परिमित कैसे रहे, निरुद्ध कैसे हो ? प्रकाश का धर्म है गति, विस्तार, फैलाव, प्रसार। अव तो हमारे रोम-रोम में प्रचार की भावना है—आप के ज्ञान के प्रचार की भावना, आप के सन्देश के प्रसार की भावना। ज्ञानी स्वभावतः उपदेशक होता है। आप हमें वह ज्ञान दीजिये जिस का उपदेश हमारे जीवन से हो—मति-गति से, आचार-विहार से, हाव-भाव से, भाव-भंगी से। हम तुम्हारा मूर्त सन्देश बन जायें।

पाप की अन्तिम झाँकी

३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २
अपघ्नन्पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः ।

३ १र २र ३ १ २
नुदस्वादेवयुञ्जनम् ॥ ६ ॥

ऋषिः—निध्रुविः = निश्चित ध्रुव।

(सोम !) मेरे सूखे हृदय के संजीवन ! (क्रतुवित्) तेरी पहुँच मेरे प्रत्येक सङ्कल्प, प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक चेष्टा में है। (मत्सरः) तू हर्ष का सरोवर है। तू (मृधः अपघ्नन्) पापों का विनाश कर (पवसे) पवित्रता का प्रवाह लाता है। (अदेवयुं जनम्) पाप की ओर प्रवृत्त इस जन को (नुदस्व) पाप-पथ से हटा कर सन्मार्ग में प्रेरित कर।

मेरे अन्दर मस्ती का सागर ठाठें मार रहा है। मैं उठूँ, बैठूँ, चलूँ, फिरूँ, कुछ करूँ, मस्ती की लहर मेरी प्रत्येक क्रिया के साथ-साथ उठती है। एक पवित्र हर्ष का प्रवाह है जिस में मैं दिन-रात डूबा रहता हूँ। मेरा प्रत्येक कार्य ईश्वर के समर्पण है। ऐसी अवस्था में पाप को उदित होने का अवसर ही कहाँ है? सोम-रस के पहिले ही घूंट के साथ मैं पाप के बीज तक को नष्ट कर चुका हूँ।

प्रभो! फिर बात क्या है? मस्ती के इस अटूट प्रवाह में भी कभी-कभी अहंकार की, अभिमान की, और इन के साथ-साथ कभी-कभी काम की, क्रोध की झाँकी-सी आ

जाती है। मैं जैसे अपने आपे से बाहर हो जाता हूँ। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह मस्ती कृत्रिम थी, धर्म का एक अस्थिर आवरण-सा था जो मेरे हृदय में बैठे "अदेव" को—राक्षस को—कुछ देर के लिए आवृत कर रहा था—ओट-सी दे रहा था। वास्तव में मैं "अदेवयु"—पापी ही हूँ।

तो क्या तुम इस पाप की प्रवृत्ति को मिटा नहीं सकते ? या ये उस की—विनाश पा रहे पाप की—अन्तिम झलकियाँ ही हैं ? नष्ट हो रहे संस्कार अपनी मोहिनी का क्षणिक म्रियमाण रूप दिखा-दिखा कर विदा हो रहे हैं।

मैं अपने पुराने "अदेवयु" स्वभाव का आखिरी दर्शन कर रहा हू। अहा ! कैसा प्यारा रूप है। मन मोहित होने लगा। मेरे सोम-रस वाले प्रभो ! अब तुम्हारा ही आसरा है। इस वृत्र का संहार कीजिये। मेरे संयम का, तप का इस परीक्षा की घड़ी में तुम्हारे सिवा और कौन रक्षक हो सकता है ? तुम्हारे सोम-रस की लाज ! उसे कहीं निष्फल न होने देना। तुम्हारा भक्त हो कर मैं "अदेवयु" रहूँ ? मुझे प्रेरित कीजिये—पुण्य की ओर, अपने पवित्र मार्ग की ओर प्रेरित कीजिये।

सूर्य का जन्म

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।

१ १२ २२ ३ २
हिन्वानो मानुपीरपः ॥७॥

ऋषिः—निध्रुविः = निश्चित ध्रुव ।

(यया धारया) जिस धारा से तू ने (सूर्यम् अरोचयः) सूर्य को रुचिर बनाया है (अया) उसी से (मानुषीः अपः) मानव प्रजाओं को (हिन्वानः) प्रेरित करते हुए [हे संजीवन-रस !] (पवस्व) पवित्रता का प्रवाह ला कर बह निकल ।

सूर्य ! प्रतिदिन वही सूर्य ! वही पुराना—लाखों, करोड़ों, अरबों वर्ष का सूर्य नित नया है । हम प्रतिदिन इसे उदय होते देखते हैं पर इस देखने से अघाते नहीं । सृष्टि की प्रभात-वेला में ऋषियों ने इस का दर्शन किया होगा । वे कितने प्रसन्न हुए होंगे । उन के हृदय किरणों के तारों पर नाच उठे होंगे । आज भी आचार्य अपनी अंगुलि सूर्य की ओर कर ब्रह्मचारी से कहता है—"तत् चक्षुः"—वह आँख है । आँख की आँख ! वह "शुक्रम् उच्चरत्"—वह प्रकाश का, वीर्य का उपदेश करती है । उस में संजीवन-रस है । संसार का जीवन संजीवन के इसी स्रोत की एक तरंग है । किरणों के मिष से इस स्रोत का रस बह-बह कर विश्व में जीवन का सञ्चार कर रहा है । कलियों को किरणें चूम जाती

हैं। डाल-डाल से आलिंगन कर उसे रोमाञ्चित कर जाती हैं। पशु-पक्षी को प्रकाश के पलने में मानों झुला रही हैं। यह जीवन का सञ्चार है।

क्या सूर्य जड़ है ? हां ! कुछ एक धातुओं का रासायनिक मेल। धातुओं में जीवन कहां ? जीवन आत्मा का चमत्कार है। "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।" सूर्य की जीवन-शक्ति पुरुष का प्रताप है। इस का तेज, इस का ओज पूर्ण पुरुष की देन है। एक धारा है जो सूर्य में से, चाँद में से, ओषधि में से, वनस्पति में से, पशु और पक्षी में से बह रही है। लोक-लोकान्तर शान्त हैं। इस में रहने वाले सभी प्राणी शान्त हैं। तो फिर मनुष्य अशान्त क्यों है ? अकेला मनुष्य चिन्ता में चूर है। सब आज की—इस क्षण की—कल्लोल में मस्त हैं। परन्तु मनुष्य है कि बरस-दिन की चिन्ता में घुला जाता है। मानव-समाज में कलह है, द्वेष है, ईर्ष्या और मत्सर की भरमार है। इन विप्लवों, आंधियों, तूफ़ानों के रहते चैन कहाँ ?

ऐ सोम-संजीवन की धार ! ऐ सूर्य की किरणो ! मनुष्य जाति की हृदय-कलिका तुम्हारे चारु-चुम्बन से वञ्चित क्यों है ? क्या कोई पवित्रता की—निष्काम धार्मिकता की—हिलोर मानव-जीवन की नौका के लिए नहीं है ?

आज तो जैसे नया सूर्य उदित हुआ है। उषा के प्रकाश की छटा आज कुछ अपूर्व सी दीख पड़ती है। दिशाओं की चिट्टी चादरों पर एक नया सुनहलापन-सा छा रहा है।

आकाश में, पृथिवी पर एक नई ज्योति का आगमन-सा प्रतीत हो रहा है। वृक्षों ने, वनों ने, हरी-हरी घास ने एक नई लाली-सी धारण की है। कोंपलों के मुख से कोई बोल रहा है। कोकिलों की कूक में जगज्जननी की नई प्रसव-पीड़ा की सी ध्वनि सुनाई देती है।

प्रभो! यह क्या होने को है? क्या यह सोम का जन्म है? मानवीय प्रजा को पवित्र करने वाले, सोये समाज में नयी स्फूर्ति लाने वाले सोम का? धर्म-मेघ के पवित्र रस का? भक्ति का? मंगल का? स्नेह का? पारस्परिक प्रेम का? नव-जीवन का?

ढके हुए समुद्र

१ २ ३ २र ३ १२ ३ २ ३ १ २
स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे।
१ १२ ३ २ ३ २
वव्रिवांसं महीरपः ॥ ८ ॥

ऋषिः—अमहीयुः=पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेने वाला। (यः) जिस संजीवन-रस ने (महीः अपः) धार्मिकता के बड़े-बड़े प्रवाहों को (वव्रिवांसम्) रोक रखने वाले—आवरणों में छिपे हुए (इन्द्रम्) इन्द्रियों के राजा की (वृत्राय हन्तवे) आवरणों को हटाने में (आविथ) सहायता दी थी। (सः) ऐ वह संजीवन-रस की धार! (पवस्व) तू फिर प्रवाहित हो।

आत्मा इन्द्र है—इन्द्रिय-पुरी का राजा है। शरीर इस की राजधानी है। इस में सब प्रकार की सम्पत्ति—सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि विद्यमान है। कोई रस नहीं, कोई वैभव नहीं जिस का सामान इस नव-द्वार की नगरी में न किया गया हो। संयम-पूर्वक भोग करे तो जहां आत्मा की अपनी,भोग की शक्ति स्थिर रहती है, वहाँ भोग की सामग्री भी इसे दिल खोल कर आनन्द देती है। जहाँ शरीरी ने संयम छोड़ा, वहाँ इस का यह दिव्य स्वर्ग झट नरक बन जाता है। आत्मा शक्ति-हीन हो जाता है। भोग रोग का रूप धारण कर लेता है। विलासी को विलास में भी तो आनन्द नहीं आता है। किसी ने सच कहा है—भौतिक भोगों के भोगने के लिए भी योग की आवश्यकता है।

साँसारिक भोग-विलास तो एक आवरण है। भौतिक जीवन का रस एक पर्दा-सा है जिस की ओट स आध्यात्मिक आनन्द की गंगा वह रही है। सोम-संजीवनी आत्मा के अपने अन्दर है। चेतना की इस छोटी-सी—अणु-मात्र—चिंगारी में आनन्द के प्रवाह रुक रहे हैं। अनन्त प्रवाहों का स्रोत स्वयं मानों मरुस्थली में खड़ा प्यास से दम तोड़ रहा है। श्रद्धा का समुद्र श्रद्धा से खाली है। भक्ति का भाण्डार भक्ति से शून्य है।

मानव जाति का इतिहास इस प्रकार के, शुष्कता के युगों की एक लम्बी कहानी है। मानव समाज का आत्मा वृत्र के—भोग के आवरण के—वश म होता है। जब इसे घने-घने पर्दे

रुक रहे होते हैं,—जब लोक-लाज, उल्टे रीति-रिवाज, रस-रहित क्रिया-कलाप, सत्पुरुषों को सन्मार्ग से हटा रहे होते हैं, उस घोर अनावृष्टि की दशा में किसी दिव्य-कोण से भक्ति की बदली उठती है। उस की पहिली ही बूँद मुख में पड़ते ही प्यासे चातक का हृदय उमड़ पड़ता है। फिर लोक-लाज के, उलटे रीति-रिवाज के सभी वृत्र नष्ट हो जाते हैं। धर्म का एक प्रवाह-सा वह निकलता है।

धर्म-मेघ! आओ! वही प्रवाह बहाओ। हमारे स्तब्ध हृदयों को स्फूर्ति प्रदान करो। हम इस नवयुग का दर्शन करें। देह-पुरा का राजा फिर से राजा ही हो। वह अपनी स्वराज्य-शक्ति को पहिचाने। उस का उपयोग करे। ज्ञान-गंगा में नहाये। सारे संसार को उस में स्नान कराये।

इन्द्र की गढ़ियाँ

३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २
अया वीती परिस्रव यस्त इन्दो मदेष्वा।
३ १ २ ३ १ १ र
अवाहन्नवतीर्नव ॥९॥

ऋषिः—अमहीयुः = पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेने वाला।
(इन्दो) संजीवन-सुधाकर! (मदेषु) मदों में से (यस्ते) जिस तेरे मद ने (नव) नौ इन्द्रियों—इन्द्र की गढ़ियों को (नवतीः) नव्वे बार (अवाहन्) अपने अधीन किया है (अया वीती) उसी कान्ति से (परिस्रव) सब ओर वह निकले।

देह-पुरी के नौ द्वार—दो आँखें, दो कान, दो नासिकायें, एक मुख और दो मल-मूत्र के मार्ग—ये नौ द्वार क्या हैं ? आत्मा की—इन्द्र की गद्दियाँ हैं। इन्हीं के द्वारा ज्ञान की और इन्हीं के द्वारा भोग की भी प्राप्ति होती है। दृष्टि अच्छी हो या बुरी—दोनों प्रकार का दृष्टि-पात आँख के द्वारा होता है। कान पवित्र शब्दों का भी पात्र है अपवित्र वचनों का भी। ऐसे ही घ्राण, रसना तथा गुप्त इन्द्रियाँ।

सच तो यह है कि जिन इन्द्रियों को साधन बना कर मनुष्य साँसारिक आनन्दों का भोग करता है, आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के साधन भी वही हैं। आवश्यकता केवल इन इन्द्रियों पर आत्म-वशीकार का पहरा बैठाने की है। इन्द्र की इन गद्दियों को बड़े इन्द्र—परम आत्मा—के अर्पण कर दो। इन में प्रभु-भक्ति का प्रवाह बहा दो। इन को भक्ति-रस में आप्लावित कर दो। बस फिर इन्हीं इन्द्रियों का भोग ही आत्मा परमात्मा का योग हो जायगा। आँखों से हम वही दृश्य देखते जायें जो नित्य-प्रति इन के द्वारा देख रहे हैं। केवल इन में प्रभु की लीला की झाँकी रहे। कानों से हम वही शब्द सुनें जो प्रतिक्षण सुन रहे हैं। केवल इन में गूँज रहे प्रभु के सन्देश की लय कर्ण-गोचर होती रहे। फिर हमारा यह साँसारिक भोग ही योग का रूप धारण कर लेता है।

हम खायें, पियें, सोयें, जागें, चलें, फिरें, खेलें, कूदें, ये सब चेष्टायें करें परन्तु इन का अभिप्राय प्रभु की आराधना

हो, उस की भक्ति हो, उस के प्यारों की सेवा हो। बस इसी से हमारा सम्पूर्ण जीवन एक लम्बी संध्या हो जायगा।

यह संध्या हमारी नवों इन्द्रियों ने दसों बार की—९×१०=नव्वेयों बार की। अनादि प्रभु से अनादि आत्मा का अनेक बार मेल हुआ। पुत्र पिता की गोदी में कितनी बार लाड-चाव लाभ कर चुका है? इसे कौन गिनाये? इस वियोग-वेला में उन मधुर-मिलापों की स्मृति होती है। प्रभो! वात्सल्य-रस का वह मधुर प्रवाह फिर बहाओ! अपने पवित्र प्रेम के प्रवाह में हमारी सम्पूर्ण इन्द्र-पुरियों को डुबा दो। कृपा-कोरों की एक बाढ़ सी ला दो। हमारा खोया हुआ बाल-पन लौटा दो। हम सौम्य हो जायें—सोम-रस का पान करने वाले—मूर्त सोम।

दिव्य सम्पत्ति

१ २ ३ १र २र३२उ ३ १२ ३ १ २
परिद्युक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा।
३ १ २ ३ २ ३ २
स्वानो अर्प पवित्र आ ॥१०॥

ऋषिः—उचथ्यः=प्रशंसनीय।

(अन्धसा) अपने प्राण-प्रद रस से (नः) हमें (वाजं भरन्) बल प्रदान करते हुए (द्युक्षं रयिम्) दिव्य सम्पत्ति (परिसनत्) चारों ओर से प्राप्त कराते हुए (पवित्रे) हृदय की चलनी में [हे सोम!] (स्वानः) गाते हुए (आ-अर्प) आओ।

हृदय की चलनी में सोम-रस का टपकना और फिर उस का अंग-अंग में छा जाना ! क्या अपूर्व अनुभूति है ! रोम-रोम भक्ति-भाव में भीजा हुआ, प्रभु के गीत गा रहा है। एक ताल है कि रोम-रोम उस पर नाच उठा है। सम्पूर्ण शरीर एक नई स्फूर्ति का घर बन रहा है। श्वास-श्वास में नया जीवन है। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा विश्व एक दिव्य ज्योति का रमणागार बन गया है। द्युलोक ने मानों पृथ्वी का स्थान ले लिया है। दिशायें दिव्य सम्पत्ति लिये भक्त की ओर झुक-सी रही हैं। सारा संसार गीतमय है। गीत और ज्योति ! ज्योति और गीत ! दोनों तरंगमय हैं। एक तरल प्रवाह है जो निरन्तर बहता चला जाता है।

मोहन ! क्या यह गीत तुम्हारा है ? क्या यह ज्योति तुम्हारे पवित्र चरणों की है ? भक्त तुम्हारा ध्यान करते ही संजीवन-रस का स्नान-सा कर लेता है। यही रस क्या तुम्हारा सुरीला सोम है ? सुरीला और नशीला ? क्या इसी के कारण हृदय को "पवित्र" कहते हैं ? अर्थात् सात्विक स्नेह की वह चलनी जो सब मलों को निथार लेती है। जहाँ भक्ति का आवेश हो वहाँ पाप कहाँ ? ताप कहाँ ?

सोम ! आओ। अपना दल-बल ले कर आओ ! अपनी दिव्य सम्पत्ति अपने साथ लाओ। चारों तरफ़ से आओ। गाते हुए, पृथिवी और आकाश को अपने दिव्य स्वर से गुँजाते हुए आओ। हृदय की चलनी में संजीवन-रस टपकाते हुए आओ।

चतुर्थ खण्ड

गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

सुरीली झाँकी

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ २
अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।
१ २र
स ꣳ सूर्येण दिद्युते ॥१॥

ऋषिः—मेध्यातिथिः = पूज्य अतिथि ।

(मित्रो न दर्शतः) मित्र के समान दर्शनीय (महान् हरिः) महान् चित-चोर (वृषा) धर्म-मेघ बन कर (अचिक्रदत्) गर्जा। वह अब (सूर्येण संदिद्युते) सूर्य के साथ-साथ चमक रहा है।

मेरे चित-चोर मित्र! मुझे तुम से प्यार है। आँखें दर्शन की प्यासी हैं। कान तुम्हारी सुमधुर तान सुनने को उत्सुक हैं। इस लिए कि तुम रस की मूर्ति हो—स्नेह-स्वरूप हो। हृदय को तुम से एक विशेष तृप्ति मिलती है। हर रंग में तुम्हारा रंग है। हर आलाप में तुम्हारी लय है। तुम

सचमुच महान् हो। मेरा अंग-अंग तुम्हारी महत्ता को स्वीकार करता है। आश्चर्य-चकित हो तुम्हारी महिमा के गीत गाता है।

प्रियतम ! तुम्हारी लीला न्यारी है। मेरी देह आज बारहदरी-सी बन रही है। उस की हर एक खिड़की तुम्हारे दर्शन की पिपासु है। तुम अभी मेघ बन गरज रहे थे। मेरा रोम-रोम मोर हो उठा था। ओह ! कैसा सुन्दर नाच था। मेरा शरीर एक नाच-घर बन रहा था। कैसा मनोहर नाद था ! धर्म ने शब्द का रूप धारण किया था। ऐसा प्रभावशाली उपदेश कानों ने कभी नहीं सुना था।

मैं चुप थी तुम बोल रहे थे
मन में मिश्री घोल रहे थे
ओंठों पर मधु तोल रहे थे
मेरा मौन तुम्हारी टेर
स्वप्न-सुमेरु रहा दृग घेर।

मोहन ! फिर यह बात क्या हुई कि तुम कानों को तृप्त करते-करते आँखों के आगे आ गये। अँधेरे में सूर्य दिखाई देने लगा। एक विचित्र प्रभात का उदय हुआ। मेरे मन-मन्दिर में उजाला छा गया। क्या यह प्रकाश तुम्हारा है ?

मैं सोयी तुम खड़े जगाते
नयनों से निज नयन मिलाते
शशि सम रहे प्रकाश बिखेर
स्वप्न-सुमेरु रहा दृग घेर।

प्रभो। मैं ने आवाज सुनी थी। अब दर्शन भी कर लिये। कानों के अन्दर से अब तुम्हारा गान सुनाई दे रहा है। आँखों की पुतली में अब तुम सूर्य बन चमक रहे हो। मैं तुम्हें कहाँ ढूंढने जाऊँ? मेरा नख-शिख तुम्हारा गीत है। तुम्हारी मनोहर झाँकी है। सुरीली झाँकी—रसीला गान।

सुख-स्वरूप शक्ति

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे।

२ ३ १ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥२॥

ऋषिः—भृगुः = तपस्वी।

(ते) तेरे (पुरुस्पृहम्) जन-प्रिय (पान्तम्) रक्षक (वह्निम्) आग जैसे कार्य-वाहक (मयोभुवम्) सुख-स्वरूप (दक्षम्) बल को (अद्य) आज इस प्रकार (आ-वृणीमहे) सब ओर से हम ग्रहण करते हैं (आ आ) जैसे सम्मुख हो।

मेरे अंग-अंग को स्फूर्ति देने वाले ताप! क्या तुम आग हो? निर्जीव जगत् को तुम्हीं सजीव करते हो? ठंडी दुनिया तुम्हारे कारण गर्म है? तुम्हीं ने इसे प्रारंभिक ताप दिया था। तुम्हारे उस ताप ही के कारण इस में अब तक गति है। अणु-अणु हिल रहा है। मैं इस ब्रह्माण्ड की गति को अपने पिण्ड में धारण कर रहा हूँ। इस का आलिंगन मानो किसी प्यारे का आलिंगन है। प्रभो! यह जीवन मेरा

कहाँ है ? जीवन तो सभी तुम्हारा है। मेरा पिण्ड ब्रह्माण्ड का एक अंश है। समुद्र की एक लहर है। सूर्य की एक किरण है। जो शक्ति संसार-भर का कार्य चला रही है, उसी ने मेरी प्रत्येक क्रिया को क्रियमाण—वाह्यमान—कर रखा है।

प्रियतम ! नासिकाएँ मेरी हैं पर श्वास तुम्हारा है। आँखें मेरी हैं पर रूप तुम्हारा है, ज्योति तुम्हारी है। कान मेरे हैं पर श्रवण आप का, शब्द आप का। मेरी समस्त अनुभूति आप की अनुभूति है।

इस अनुभूति में कैसा सुख अनुभव हो रहा है ! तुम सुख-स्वरूप हो। तुम्हारी शक्ति सुख की प्रतिमा है। हम उसी शक्ति से जीते हैं।

इस से पूर्व हमारी दशा जो रही हो सो रही हो। आज तो हम तुम से भिन्न कोई सत्ता ही नहीं रखते हैं। हमारा जीवन तुम्हारे आश्रय से है। हम ग्रहण-स्वरूप हैं। शक्ति के सरोवर में पड़े डुबकी लगाए जाते हैं। शक्ति तुम्हारी है इस लिए शान्त है, शिव है, सुन्दर है।

इस एक आत्म-समर्पण की वृत्ति ने हर आधि-व्याधि से हमारी रक्षा कर दी है। अब हमें न चिंता है न भय है। शक्ति के दुर्ग में आ कर हम सुरक्षित हो गए हैं। अब तो हमारी चिन्ता का भार तुम पर है।

हमें क्या पता था कि शक्ति के स्रोत तुम्हीं हो ? हमारा जीवन तुम्हारी देन है ? हम इस का अप-व्यय क्यों करते

यदि पहले से ही इस जीवन के स्रोत को जान लेते ? जीवन पवित्र है, पुण्य है, ईश्वरीय है। यह हेय नहीं, उपादेय है, अत्यन्त उपादेय, अत्यन्त वाञ्छनीय।

ईश्वरार्पण होने से यह पूर्णतया सुरक्षित है। हमारा काम है—इसे तुम्हारे रास्ते पर लगा देना। फिर इसे सफल करो, निष्फल करो—इस की हम मानवों को क्या चिन्ता ?

हमारी सफलता समर्पण में है।

व्रती सोम

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आनय।
३ १ २ ३ १ २
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥२॥

ऋषिः—उचथ्यः = वक्ता।

(अध्वर्यो) अहिंसा आदि व्रतों के इच्छुक मेरे मन ! (अद्रिभिः सुतम्) मेघों, पर्वतों तथा ऋषियों की वाणियों से उत्पन्न हुए (सोमम्) सोम-रस को (पवित्रे) हृदय की चलनी में (आनय) ले आ। (पुनाहि) इसे पवित्र कर (इन्द्राय) जिस से तेरा आत्मा (पातवे) इस का पान करे।

ऐ मेरे मन ! क्या तेरी अब यह इच्छा है कि तू यम-नियमों का पालन करे ? तू किसी के मन को दुखाए नहीं ? मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा-व्रत का व्रती हो ? तेरे विचार में, व्यवहार में सत्य हो ? तू किसी के अधिकार को हर कर चोरी का दोषी न हो ? तेरा आन्तरिक तथा बाह्य जीवन ब्रह्मचर्य का जीता-जागता चित्र हो ? तू काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि बुराइयों से रहित हो ? तू पवित्र हो, सन्तुष्ट हो, ईश्वर-परायण हो ?

ऐ मेरे मन ! क्या अब तू ने पवित्र जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर लिया है ? तू स्वार्थी नहीं रहा ? तेरे विचार का क्षेत्र संकुचित नहीं, सीमित नहीं, विस्तृत हो गया है ? तू विश्व से प्यार करता है ? अपने-पराये में कोई भेद नहीं समझता ? पृथिवी तेरी है और तू पृथिवी का ? आकाश तेरा है ? जीव-जात सभी तेरे बान्धव हैं ?

यह संकल्प पुण्य है, पवित्र है। परन्तु इस की सिद्धि आँख मूँदने से न होगी। तू अपने विचार की कोठरी से निकल। ज़रा अपने सिर पर ही मँडला रहे बादलों को, चारों ओर पंक्तियाँ बाँध कर खड़े पहाड़ों को देख। उन में हो रहे पत्तों के, पक्षियों के, प्रपातों के कल-कल नादों को सुन। भक्ति-रस का यह प्रवाह क्या तेरे हृदय में कोई विशेष आह्लाद पैदा नहीं करता ? इस प्रवाह की भौतिक पवित्रता तो इन्द्रियों द्वारा प्रतीत हो ही रही है। इस रस का आध्यात्मिक स्वरूप किसी भावुक के हृदय द्वारा ही अनुभव में

आता है। हृदय की चलनी में छन कर यह रस आत्मा के—इन्द्रियों के राजा इन्द्र के—पान के योग्य हो जाता है। इस आध्यात्मिक पवित्रता के क्या कहने !

आत्मा के ओठों से यह प्याली लगी नहीं कि यम-नियम हाथ बाँध स्वयं अध्वर्यु के—व्रतों के अभ्यासी के—सम्मुख विद्यमान हो जाते हैं। पापी से पापी पुरुष जब भक्ति-रस का एक घूँट अपने अनुभव के गले से उतार ले, सदाचार उस के स्वभाव में आ जाता है। यम-नियम मानो उस की मुट्ठी में पड़ गए। प्रभु का भक्त न हिंसा कर सकता है, न झूठ ही बोल सकता है। ब्रह्मचर्य उस के अंगों में समा जाता है। जगत्-भर का स्त्री-समाज उस के लिए जगज्जननी की दिव्य झाँकी का झरोखा-सा बन जाता है। सदाचार उस के रोम-रोम से फूटा पड़ता है। व्रतों का पालन अनायास उस के मन तथा शरीर द्वारा होता चला जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्रतों ने उस के शरीर को अपना आवास-सा बना लिया है।

मेरे व्रतेच्छु मन! तू इस रस के स्रोत में डुबकी लगा। अपने आप को सर्वात्मना इस में डुबो दे। शराबोर कर दे। फिर व्रत स्वयं तेरा पीछा करेंगे। तुझे पता ही न लगेगा कि तू व्रती है, और तू व्रती होगा। अध्वर्यु नहीं, स्वयं अध्वर।

मस्ताना

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २र
तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
२ ३ २ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥४॥

ऋषिः—अवत्सारः = निर्मोह, प्रेममय, सन्तुष्ट ।

(सुतस्य अन्धसः) [ईश्वर की आराधना से] उत्पन्न हुए प्राण-प्रद सोम-रस की (धारा) धारा से (स मन्दी) मस्त हुआ वह मस्ताना (तरत्) तैरता-सा (धावति) दौड़ता है। (स मन्दी) वह मस्ताना (तरत्) तैरता-सा (धावति) दौड़ता है।

देखना ! प्रभु के भक्त की चाल-ढाल को एक दृष्टि देखना ! वह मस्ताना है—दीवाना है। उस ने कुछ पी-सा रखा है। वह मानो किसी समुद्र की धार पर सवार है। वहा-सा जाता है। विना पानी के तैर रहा है। उस की गति में,मति में कैसी स्फूर्ति है ! भक्त संजीवनी का पुतला-सा लगता है। जब आस पास के लोग आलस्य की नींद सो रहे होते हैं, वह अकेला जागता है और दौड़ता है। भागे विना उसे चैन नहीं। निरन्तर भाग रहा है। आज यहाँ था, कल वहाँ। उस का सम्पूर्ण जीवन एक आन्दोलन है। वह रुके कैसे ! सुस्ताये क्यों ! वह थकता तो है ही नहीं। चलने में उसे परिश्रम नहीं होता। उसे तो एक जीवन-प्रद आनन्द की धार वहाये

लिये जाती है। उस के बाहु हिलते हैं, जैसे पतवारें। उस का शरीर नौका-सा आगे-आगे उठा जाता है। जिस रस का उस ने सवन किया है—उसे खींचा है और फिर पिया है, उस की लहर ही उसे बहाये चलती है। रस के थपेड़ों में वह मछली-सा तैर रहा है। उस की भुजायें मानो तरल तरंगें-सी बन रही हैं। उस की टाँगें उठती नहीं, चलती नहीं, बहती हैं। गति उस के शरीर का धर्म हो गया है। उस का योग-क्षेम प्रभु ने अपने ऊपर ले लिया है। उसे चिन्ता काहे की ? वह अपनी शक्ति से नहीं—जगज्जननी की शक्ति से चलता है। वह थके कैसे ? उस के हृदय में उल्लास है। मन में साहस है, उत्साह है। भक्ति के नशे में वह मस्त है। अन्य नशे जीवन के नाशक हैं। यह नशा स्वयं संजीवनी है। इस नशे की धार में, धारण की अद्भुत शक्ति है। इस का मस्ताना लड़खड़ाता नहीं, दौड़ता है।

इस संजीवन प्राण का सवन साधारण प्राणों द्वारा ही किया जाता है। भौतिक प्राण में आध्यात्मिक संजीवनी सामान्यतया प्रसुप्त-सी रहती है। भक्त इसे जगाता है। अपनी भौतिक शक्तियों से ही आध्यात्मिक रसों का सवन करता है। फिर तो जैसे उस का सम्पूर्ण शरीर ही अध्यात्म की लहर पर सवार हो जाता है। जैसे दुनिया के बन्दे को दुनिया की हवस लिये-लिये फिरती है, ऐसे ही "मन्दी"—मस्ताने को उस की मस्ती की लहर उठाये-उठाये फिरती है।

मेरे मन ! तू मस्ताना हो, दीवाना हो। चल नहीं,

चलाया जा। फिर नहीं, फिराया जा। चलाने की थकान चलाने वाले को होगी। फिराने का परिश्रम फिराने वाले पर पड़ेगा। तू मुफ्त में तैर लेगा, बह लेगा, दौड़ लेगा। तैरने का, बहने का आह्लाद अनायास तुझे मिल जायगा।

अन्न से अत्ता

१ २   ३ १ २   ३ १   २   ३ १ २
आपवस्व सहस्रिणꣳ रयिꣳ सोम सुवीर्यम्।
३ १   २र
अस्मे श्रवाꣳसि धारय ॥ ५ ॥

ऋषिः—निध्रुविः = निश्चित ध्रुव।

(सोम) ऐ मेरे संजीवन-सुधा के सुसंपन्न स्रोत! अपने दिव्य प्रवाहों में तू (सहस्रिणं रयिम्) हज़ार धनों का एक धन (आपवस्व) बहा ला। (अस्मे) हम में (श्रवांसि) अन्न, बल, तथा दिव्य संदेश (धारय) स्थापित कर।

जीवन एक चमत्कार है। मैं इसे देखता हूँ और आश्चर्य-चकित रह जाता हूँ। शरीर क्या प्रकृति के परमाणुओं का पुंज-मात्र ही है? परमाणुओं का पुंज देखने, सुनने, सूंघने, छूने और चखने कैसे लग गया? इस में अपने आप बढ़ने, अपनी क्षतियां पूरी कर लेने, वाहर के पदार्थों से अपने आप को पुष्ट करने की शक्ति कहाँ से आई? फिर आचार, व्यवहार, विचार की

प्रवृत्तियाँ किस प्रकार उदित हो गईं ? जड़ प्रकृति ईंट है, पत्थर है, सूखा काठ है। उस में चेतनता का चमत्कार कहाँ ?

सजीव शरीर अन्न को पचाता है। उसे अपना अंगभूत बना लेता है। शरीर जितना स्वस्थ हो, जीवन जितना विकार-रहित हो, उस में अन्न ग्रहण करने की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। अत्ता का अन्न खाना क्या है ? निर्जीव को सजीव बना लेना है। जो पदार्थ पहिले जड़ था—चिति से शून्य था, अब सजीव शरीर का अंग बन कर स्वयं सजीव हो रहा है। अन्न अत्ता बन रहा है।

अन्न बल का रूप धारण करता है—यह एक और अचंभा है। जीवनी शक्ति दूध को, धान को, शरीर की जीती-जागती शक्ति में कैसे परिवर्त्तित करती है ? न घी पहलवान है, न आम और न बादाम। परन्तु एक सजीव शरीर इन का प्रयोग करता है और पहलवान बन जाता है। क्या यह जीवनी शक्ति की अद्भुत विभूति नहीं।

यह बल पाशविक बल है। मानव बल आध्यात्मिक है। यह उस से भी बड़ा चमत्कार है। मनुष्य अन्न खाता है और तदनुसार मन को बनाता है। सात्त्विक अन्न से सात्त्विक मन, राजस अन्न से राजस मन, और तामसिक अन्न से तामस मन बनता है। अन्न से मन बन रहा है। इन दो की आपस में तुलना क्या ?

योगी का अन्न भौतिक नहीं। उस के भौतिक आहार

में भी अध्यात्म की झाँकियाँ हैं। उस का जीवन संगीत-मय है। उस की सम्पूर्ण क्रिया श्रवण-रूप है। वह दिव्य रागों को सुन रहा है। उस का शरीर एक वाद्य-शाला है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अलौकिक गान गा-गा कर उसे मस्त कर रही है। वह खाता है, देखता है, सूंघता है और इन सब चेष्टाओं में अपने प्रभु की झाँकी पाता है। उस के दिव्य संदेश को सुनता है। उस ने जीवन का मानो साक्षात्कार किया है।

अन्न पचाने की, अन्न को अत्ता वनाने की, अन्न को मन का रूप देने की, अन्न तथा मन दोनों की लयें किसी दिव्य संगीत में विलीन कर देने की शक्ति "सोम" कहलाती है। वह शक्ति वह रही है—निरन्तर वह रही है। वह दिव्य संजीवनी—हज़ार सम्पत्तियों की एक सम्पत्ति—वह रही है। उस के विना कोई सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं रहती। भोक्ता में भोक्तृत्व न हो, तो भोग वेकार है।

ऐ मेरे जीवन के आध्यात्मिक स्रोत! वहता जा! वहता जा! मेरे अंग-अंग में नई-नई शक्ति लाता जा! लाता जा! मेरे अन्न को अत्ता वनाता जा! वनाता जा! इस मन का रूप देता जा! देता जा! मेरे भौतिक भोगों को दिव्य विभूतियाँ वना-वना कर चमकाता जा! चमकाता जा!

लकीर के फ़कीर

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २२
अनुप्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः ।

३ १ २ ३ २
रुचे जनन्त सूर्यम् ॥६॥

ऋषिः—निध्रुविः = निश्चित ध्रुव ।

(अनुप्रत्नासः आयवः) पुरानी लकीर के फ़क़ीरों ने (पदं नवीयः) नया पग (अक्रमुः) उठाया। (रुचे) प्रकाश के लिए उन्हों ने नया (सूर्यम्) सूर्य (जनन्त) पैदा कर लिया।

जनता अपने पुराने मार्ग पर आँखें मूँदे चली जा रही थी। सदियों के अभ्यस्त मार्ग पर दृष्टि डालने की आवश्यकता ही क्या थी ?

जाते-जाते ज्ञात हुआ कि यह रास्ता तो एक खड्ड में जाता है। देखने वालों ने सावधान किया। खतरे की घंटी बजाई। शोर मचाया। सुनने वाले हँस दिये और उसी रास्ते पर चलते गये। "हम जब से पैदा हुए हैं। इसी मार्ग पर चलते आ रहे हैं। हमारे पूर्वज हम से पूर्व इसी सड़क पर चले थे। बाप-दादा का रास्ता कैसे अशुद्ध हो सकता है ? क्या हमारे बड़े बूढ़े पागल थे ?" किसी बड़े सयाने ने कहा।

"किसी रास्ते को केवल इस लिए सीधा स्वीकार करना कि उस पर हमारे बड़े बूढ़े चले थे, अपनी बुद्धि का

तिरस्कार करना है। यदि सचमुच खड्ड सामने है तो रास्ता बदल लेना चाहिए।" एक युवक डट कर बोला।

"अजी! रात का समय है। हाथ को हाथ नहीं सूझता। नया रास्ता ढूँढोगे कैसे ? पूर्वजों के पीछे चलने में यही तो लाभ है कि स्वयं सोचना नहीं पड़ता। यह रास्ता अमुक पोथी में लिखा है। तेल से चिकने हुए अमुक मैले पन्ने पर अंकित है। मैले पन्ने का प्रमाण अकाट्य है।"

इतने में खड्ड सम्मुख आ ही गई। युवक एक ओर हो लिये। बूढ़े पुराने पन्नों को पड़तालने लगे। जब युवकों को अपना रास्ता स्वयं निकालते देखा तो ये भी उन के पीछे चल पड़े।

प्रभात का उदय हो चुका था। नये युग का नया दिन था। सूर्य उदयाचल के शिखर पर अपनी सुहावनी छवि दिखा रहा था। प्रतीत ऐसा होता था कि इस सूर्य का उदय किसी क्रान्तिकारी युवक के हृदय से हुआ है।

क्रान्तिकारी युवक का हृदय! यही सब से बड़ा सूर्य है। अनादि काल से इस सूर्य का उदय असंख्य बार होता आया है। हमारे आरम्भ के पूर्वज सभी क्रान्तिकारी थे। क्रान्तियाँ पुरानी प्रथाओं की पुनरावृत्तियाँ होती हैं। एक प्रथा निर्जीव हो जाती है। उसे नया रूप दे दिया जाता है। एक रूढ़ि हटती है, दूसरी उस का स्थान ले लेती है। पुरानी लकीर के फ़क़ीर बूढ़े भी हैं, नवयुवक भी। इन में भेद केवल इतना ही है कि नवयुवकों की लकीर अधिक पुरानी है—

सनातन है। बूढ़ों का पुरातन काल एक आध सदी से परे नहीं जाता। पूरे पुराने हो जायें तो उन के सूर्य का भी उदय और अस्त—अस्त और उदय, सदा होता रहे। वे केवल रात के पक्षी न रहें। उन के प्रमाण के पन्ने चिट्टे हो जायें, उन की मैल उतर जाय।

"पुराण" क्या है? यास्क के निर्वचन के अनुसार "पुरा नवं भवति।" रात के अँधेरे में ऊषा की नई छटा छिपी है। जीवन नाम ही पुराने को नित नया करने का है। जहाँ यह क्रिया समाप्त हुई, जीता पिण्ड निर्जीव हो जायगा। जीवन व्यक्तियों का भी, जातियों का भी, सतत हो रही काया-पलट में है। नये को छोड़ो नहीं, पुराने से मुख मोड़ो नहीं। रूढ़ियाँ अदलती बदलती रहें परन्तु भाव वही रहे। वास्तविक "अनुप्रन्नता" यही है।

सूखे काठ

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
अर्पा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्।
३ १ २ ३ २ ३ ४
सीदन्योनौ वनेष्वा ॥७॥

ऋषिः—भृगुः = तपस्वी।

(सोम) ऐ मेरे आध्यात्मिक जीवन-जल! (अभिद्रोणानि) मेरे काठ के कलशों में (रोरुवत्) गुनगुनाते हुए, (द्युमत्तमः) अपनी अत्यन्त चमकीली छटा दिखाते हुए, (वनेषु

योनौ आ-सीदन्) ऊजड़ में बस्ती बसाते हुए (आ-अर्ष) आओ।

मेरा सजीव शरीर आज निर्जीव क्यों है ? इस जीते जागते की जीवन-शक्ति किस ने हर ली ! मेरा अंग-अंग सूखा काठ-सा बन रहा है। क्यों ?

कभी काठ के इन कलशों में रस भरा था। इन में मधुर ध्वनि उठती थी। इन में जीवन-रस बोलता था। क्या मधुर गुँजार थी ! पर अब ? मौन है। सुनसान है। कलश हैं परन्तु ख़ाली। मेरी देह की अर्घट में लोटे लगे हैं, पर वे सब चुप्पी साधे हैं। उन में रूं-रूं की मीठी आवाज़ नहीं हो रही है—वह मीठी आवाज़ तो आसावरी बन कर भक्त के हृदय को भक्ति-रस का स्रोत-सा बना देती है। मेरे आज के प्रभात में सन्नाटा है, अँधेरा है, ऊजड़ है। मैं ने अपने आप को जगाया है पर वह जागा नहीं। मैं ने बत्ती जलाई है पर वह जलती नहीं। मैं ने आवाज़ उठाई है, पर वह मौन से अधिक भयावनी है। सुनसान है।

प्यारे ! आओ ! मेरी आँखों के तारे ! आओ, इस जलाये गये, पर फिर भी न जल रहे, दीप में स्नेह टपकाओ। मेरे सूखे काठों को फिर से आर्द्र कर दो। मेरी इन्द्रियों में ऊजड़ वनों का सा समाँ है। इन में अपनी जीवन-ज्योति झलका दो। अपने मनोहर राग की बस्ती फिर से बसा दो। इन वनों में घर दीखें।

स्वाति

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः।
१ ३ १ २
वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥८॥

ऋषिः—कश्यपः = द्रष्टा।

(सोम) ऐ मेरी जान की जान ! मेरे जीवन-तत्त्व ! (द्यु-मान् वृषा असि) तुम चमक रहे धर्म-मेघ हो। (देव) ऐ देव ! (वृषव्रतः वृषा) तुम बरसने का व्रत ले चुके धर्म-मेघ हो। (वृषा धर्माणि दध्रिषे) तुम धर्म-मेघ हो कर धर्म के तत्त्वों की रक्षा करते हो।

मैं ने चातक बन कर असंख्य बार ऊपर ताका है। कोई बदली ! स्वाति-नक्षत्र में बरसने वाली कोई बूँद ! एक बूँद मेरी बरसों की प्यास के बुझा देने के लिए पर्याप्त है। पर बदली कहाँ है ? सूखे आकाश में पानी की एक बूँद भी तो देखने को नहीं मिलती। स्वाति है, बूँद नहीं। बूँद है, स्वाति नहीं।

अहा ! स्वाति मेरे अंदर है। क्या सुन्दर झाँकी है। एक ही दृष्टि ने मेरे मन को मोह लिया। लो ! यह नक्षत्र तो बादलों के बादल अपने साथ उमड़ा लाया।

मेरा अपना जीवन जिस जीवन-तत्त्व की करामात है, वह एक चमकती ज्योति है—रसमय आबदार ज्योति। उस में स्नेह है—प्रेम का, सेवा का स्नेह। वह एक ऐसी आँख है जिस में आँसू टपकने को तैयार खड़े हैं।

मेरी आत्मा धर्म-मेघ है। मेरे लिए और मेरे जैसे सब चातकों के लिए स्वाति-नक्षत्र की बूँद यही है। इस में वृष्टि की, बरस जाने की उत्सुकता उमड़ रही है।

मनुष्य अपने स्वरूप को भूला हुआ है। प्रत्येक आत्मा राम है, कृष्ण है, बुद्ध है, दयानन्द है। उस का व्रत है— धर्म की स्थापना।

धर्म आत्मा का आधार है। जिन व्रतों—नीति के,आध्यात्मिक जीवन के जिन तत्वों से आत्मा की सत्ता स्थिर रहती है, उस का ह्रास नहीं, उलटा विकास होता है, उन्हें धर्म कहते हैं।

सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दया, परोपकार—ये सब आत्मा को ऊँचा उठाते हैं। इन व्रतों के आचरण से आत्मा को आह्लाद अनुभव होता है। हृदय में तरावट-सी प्रतीत होती है। ये धर्म-मेघ के व्रत हैं।

वह अपने आचरण से, भाषणों से, निमन्त्रणों से इन व्रतों की स्थापना करता है। देखने को वह परोपकार कर रहा होता है। वास्तव में यह उस का अपना उपकार है।

ऐ मेरी आत्मा! ऐ मेरी मैं! क्या तू सचमुच धर्म-मेघ है? तुझ में धर्म की ही द्युति है और धर्म की ही तरी? तू ने सत्य क्या बोला कि पृथिवी और आकाश, जल और थल, पर्वत और वन, सब सत्यमय हो गये। मेरे पाँवों के नीचे की घास तेरे सत्य की साक्षी दे रही है।

मेरी जान! तू इस दिव्य आचरण को अपने में

मूर्त कर। धर्म की स्थापना सब से पूर्व अपने अंदर ही होती है। तू ब्रह्मचारी हो, दयालु हो, संसार का अणु-अणु तुझे ब्रह्मचारी दीखेगा, दयालु दीखेगा। सारे संसार को ब्रह्मचर्य ने उठा रखा है, दया ने सँभाल रखा है।

तो इन सँभालने वाले व्रतों द्वारा मैं स्वयं क्यों न सँभल जाऊँ? मैं इन्हें सँभालूँ, ये मुझे। लाठी को शरीर उठाये और शरीर को लाठी। और दोनों मिल कर धर्म के इस संपूर्ण भवन को उठा लें।

पूर्णिमा

३१२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः।
१ २ ३ १ २र
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥९॥

ऋषिः—कश्यपः = द्रष्टा।

(मनीषिभिः) बुद्धिमानों के हाथों (मृज्यमानः) मँजता हुआ (धारया) धारा के रूप में (इषे) ज्ञान के लिए (पवस्व) प्रवाहित हो, प्रगति कर। (इन्दो) ऐ [मेरे मन-रूपी] द्वितीया के चाँद! (रुचा) प्रकाश के साथ-साथ (गाः अभि इहि) कलाओं की वृद्धि में प्रवृत्त हो।

ऐ मेरे मन! तेरा ज्ञान बहुत थोड़ा है। तू जान सकता ही कितना है? तू ज्ञानी नहीं, ज्ञान का पात्र है। तुझ में प्रकाश है पर बहुत कम। तू चाँद है, सूर्य नहीं। तेरा प्रकाश

अपना नहीं, किसी का है। तो तू प्रकाश वाले के सम्मुख क्यों नहीं होता ? ज्ञानियों की संगति में बैठ। उन का नियन्त्रण अपने ऊपर ले। वे तुझे माँज देंगे। कोई कलंक, पाप-ताप का कोई लेश तेरी आत्मा पर रहने न देंगे। तेरी बुद्धि का ज़ंग उतार देंगे। तेरी मनन-शक्ति को निर्मल कर देंगे। तेरी प्रज्ञा की धार को तेज़ कर देंगे। उन्हें क्या करना है ? उन के पास बैठने से तू अपने आप मँजता जायगा।

यह प्रक्रिया एक दिन नहीं, निरन्तर चलती रहे। गुरु-जनों की सेवा-शुश्रूषा की अविरल धारा निरन्तर बहती रहे। तभी तो ज्ञान की खेती लहलहा उठती है। उस में हरिया-वल आती है। मन के लिए अन्न पैदा होता है—मानसिक अन्न अर्थात् ज्ञान।

मनीषी महानुभावों के नित्य के सत्संग से ही प्रज्ञा में प्रकाश बढ़ता है। द्वितीया के चाँद में जितनी अधिक सूर्य की छाया पड़ेगी, उस में उतनी ही प्रकाश की कला बढ़ती जायगी। एक दिन आयगा जब उस की प्रज्ञा की पूर्णिमा होगी।

मेरे मन ! तू मनीषी होना चाहता है, तो मनीषियों के हाथ में पड़ जा। ये तुझे ऐसा स्वच्छ करेंगे जैसे गौ बछड़े को। गौ बछड़े को चूमती है, चाटती है, अपनी पवित्र जीभ से उस का संपूर्ण मल हर लेती है। उपदेश-उपदेश में ही इन की जीभ वह काम कर जायगी जो गौ की ज़बान बछड़े के शरीर पर करती है।

फिर सब मनीषियों का एक मनीषी तो पूर्ण-प्रज्ञ परमेश्वर है। तू उस के सम्मुख हो। उस की कला से कलावान् हो। फिर तेरी ज्ञान-प्रभा के क्या कहने हैं! वास्तविक ज्ञान-भानु वही है। उसी की छाया में आ कर सभी मनीषी पूर्ण मनीषी होते हैं।

चिति के द्वार

मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः।
अव्या वारेभिरस्मयुः ॥१०॥

ऋषिः—असितः = बन्धन-रहित।

(सोम) ए चराचर जगत् के संजीवन-रस! तू (अस्मयुः देवयुः) हम देवताओं की ओर (अव्या वारेभिः) अवि के आवरणों में से (वृषा) बादल बन कर (मन्द्रया धारया) नशीली धार के रूप में (पवस्व) प्रवाहित हो।

यह सम्पूर्ण संसार चिति का घर है। तिनके-तिनके में, पत्ते-पत्ते में, पौधे-पौधे में चेतनता प्रकट हो रही है। डालों के हिलने में केवल हवा की गति नहीं। पत्ते मस्त हैं। मस्ताने हो कर झूम रहे हैं। कली के चटकने में केवल भौतिक ध्वनि हो—यह बात नहीं। कोई जीवनी शक्ति बोल रही है।

वनस्पति-जगत् देखने में जड़ है। वास्तव में इस में कोई दिव्य आध्यात्मिक सत्ता काम कर रही है। पौधे-पौधे

का वढ़ना, वाहर से भोजन लेना और उसे पचाना, श्वास खींचना और वाहर फेंकना, रुधिर की जगह एक विशेष रस, मूल से शाखाओं तक ले जाना, फलना, फूलना—ये सव जीवन के लक्षण हैं। वेद ने इस शक्ति का नाम "अवि†" रखा है। प्रत्येक वृक्ष की त्वचा पर छोटे-छोटे वाल हैं, कांटे हैं, जो रोमावली का काम कर रहे हैं। जीवनी इन रोंगटों में से झांक-झांक कर दर्शन दे रही है। मस्तानी जीवनी झूम रही है, झूल रही है। वृक्ष वृक्ष की, पौधे-पौधे की, डाल-डाल की, पात-पात की मस्तानी चाल-ढाल उस जीवनी की नशीली धार है—मस्तानी लहर है।

दिव्य जीवनी! जव से तू हमारी आँखों में समाई है, हमारी आँखें स्वयं देव हो गई हैं। प्रत्येक इन्द्रिय दिव्य हो गई है। संजीवनी के संपर्क से हम जी उठे हैं। हम पार्थिव नहीं रहे, दिव्य हो गये हैं। हम एक अलौकिक सत्ता हैं—भूतातीत आध्यात्मिक सत्ता।

हम देवताओं से इस दिव्य "अवि" का भाई-वहिन का संवन्ध है। हम और वह एक हैं। "अवि" चाहती है—हमारी आत्माओं का—अपने पुराने वन्धुओं का—आलिंगन। तो आ! ऐ दिव्य चिति! आ! हमारा रोम-रोम तेरा अपना द्वार है—तेरी तुतलाती वोली में "वार" है—खिड़की

---

† अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥ अथर्व. १०.८.३१

है। तू उस में से वह निकल। मस्तानी लहर बन कर वह निकल, सात्विक स्नेह की धार बन कर वह निकल। तू भक्ति की बदली है, मंगलमय मेघ है। आ! हमारे सूखे अंगों में आर्द्रता ला। भाई-भाई मिल जायें। सम्पूर्ण चराचर जगत् मेरा अपना परिवार हो जाय।

वृद्धि का जादू

अया सोम सुकृत्यया महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः।
मन्दान इद्वृषायसे ॥११॥

ऋषि.—कविः = क्रान्तदर्शी।

(सोम) हे आध्यात्मिक जीवन से संपन्न महापुरुष! (अया सुकृत्यया) इस सुन्दर जादू से तू (महान् सन्) महान् हो कर (अभि-अवर्धथाः) बढ़ा है, कि तू (मन्दानः इत्) मस्त हो-हो कर ही (वृषायसे) बरसता है।

जीवन से जीवन पैदा होता है। आम पैदा करना न करना आम के वृक्ष के बस की बात नहीं। वृक्ष के बढ़ने का अर्थ ही यही है कि उस में फल आये। माता की छाती में दूध हो सही, वह उमड़ कर ही रहेगा। दूध मानो बच्चे के ओठों का प्यासा है।

ऐसे ही जिस सन्त को आत्म-प्रसाद प्राप्त हो गया—जिस के हृदय में आध्यात्मिक संजीवनी का संचार हो गया—

जो धर्म-मेघ बन गया, वह बरसने से रह ही कैसे सकता है ? वह मेघ है, इस लिए झूमेगा। मस्त हो-हो कर बहेगा, बरसेगा।

बदली घनी हो सही, जहाँ हिली, टपक पड़ेगी। स्नेह के, प्रेम के, हृदय की आर्द्रता के दो आँसू टपकायगी ही। यही उस की घनता है—"महत्ता" है।

फल से लदी शाखा, दूध से भरी गाय, आध्यात्मिक रस से संपन्न योगी, नव-प्रसूता माता के सदृश होते हैं। इन की मस्ती त्याग में है—सेवा में, आत्मोत्सर्ग में। ये आप दुःख झेलते हैं, औरों को सुखी करते हैं, इसी में इन का अपना सुख है।

आम की शाखा पर बौर आया। उस में मस्ती की सुगन्ध थी। मस्ती की उसी सुगन्ध ने कोकिल को मस्ताना बनाया। उस की कू कू वास्तव में आम के बौर की कू कू है।

बादल गर्जा। मोर नाचने लगे। मोरों का केक-नाद बादल की गर्ज का रूपान्तर है।

मेरे मन ! तू चाहे आम बन और चाहे कोकिल। चाहे बादल बन कर गरज और चाहे मोर बन कर नाच। बात एक ही है। तुझे वह मस्ती चाहिए जो बरसे—अनजाने में बरस जाय। उपकार के लिए नहीं, अपने आनन्द के लिए बरसे। उपकार की भावना के बिना—उमड़ रही संपन्नता की मस्ती-मस्ती ही में उपकार कर जाय।

वसुधैव कुटुम्बकम्

३ १र २र ३ १र २र ३ १२
अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः सचेतति ।
३ १र २र ३२
हिन्वान आप्यं बृहत् ॥१२॥

ऋषिः—जमदग्निः = चलती फिरती आग।

(अयम्) यह (विचर्षणिः) दूरदर्शी (बृहत्) महान् (आप्यम्) बन्धुत्व [की लहर] को (हिन्वानः) प्रेरित करता हुआ (हितः) चाहे ठहरा ही हुआ है (पवमानः) बहता-सा (सचेतति) प्रतीत होता है।

मनुष्य की बुद्धि संकुचित है। वह आज का हित देखता है, कल का नहीं। निकट की भलाई पर ध्यान देता है, दूर की भलाई पर नहीं। वास्तव में भलाई का क्षेत्र न समय से सीमित हो सकता है न देश से। हित करना हो तो किसी व्यक्ति-विशेप का, या वंश-विशेप अथवा देश-विशेप का, अन्य व्यक्तियों, अन्य वंशों,तथा अन्य देशों से अलग हो कर नहीं किया जा सकता है। मनुष्य-जाति एक साथ उठेगी और एक ही साथ बैठेगी। संकुचित दृष्टि के लोग इस महान् तत्व को नहीं पहचानते और इसी से वे दुःखी हैं। सच तो यह है कि इस विश्व के सभी प्राणी—मनुष्य, पशु, पक्षी, यहां तक कि वनस्पति और ओपधि आदि भी विस्तृत बन्धुत्व के नाते एक बड़े परिवार के सदस्य हैं। जीवन-रस की एक लहर इन सब जीव-बन्धुओं को बिन्दु बना-बना कर

मोतियों की एक सुन्दर माला में पिरोये हुये है। सजीव संसार एक बड़ा समुद्र है जो निरन्तर ठाठें मार रहा है।

आत्म-दर्शन इसी महान् तत्व का दर्शन होता है। वही "विचर्पणि:"—सर्वद्रष्टा है जिस ने इस महान् तत्व को पहिचाना। वही अपना तथा दूसरों का हितकारी हो सकता है। वह खड़ा हो, पड़ा हो, जीव-जात की हित-कामना की लहर पर सवार हुआ निरन्तर चलता-सा—बहता-सा—दिखाई देता है। वह स्वयं पवित्र है और अपने पवित्र विचार से संसार-भर में पवित्रता का संचार करता है। उस की गति और स्थिति—दोनों अवस्थाओं में हृदय की आर्द्रता काम करती ही रहती है। वह परोपकार में दृढ़ है, अचल है। उसे उस के कर्त्तव्य के पथ से कौन डिगा सकता है ? वह चट्टान की तरह मज़बूत है, उस का जीवन सज्जीवन का प्रचार है, संचार है। वह बहती नदी है, खड़ा हुआ पानी नहीं। "तदेजति तन्नैजति"। "अचल गति वाले" की उपासना करते-करते वह स्वयं अचल हो गया है, निरन्तर गतिमान् हो गया है।

"अयम्" यह जन अर्थात् मैं। क्या मैं "विचर्षणि" हूँ ? "हित" हूँ ? "पवमान" हूँ ? इस महान् बन्धुत्व की व्यापक लहर का साक्षि मैं हूँ। इस लहर को अपनी गति-मति से हिलाता हूँ ? प्रेरित करता हूँ ?

वेद कहता है—हां ! मेरे हृदय ! तू भी तो "हां" या "न" कह।

वेद-वाणी ! मेरे हृदय की वाणी बन जा।

रस-भरी ज्योति

१ २ ३ १र २र ३ १र २र
प्र न इन्दो महे तुन ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि ।

३ २ ३ २ ३ १ २
अभि देवाँ अयास्यः ॥१३॥

ऋषि—अयास्यः = अनथक ।

(इन्दो) हे गीली चिनगारी ! रस-भरी ज्योति ! (देवान् अभि) तुझे देवताओं की ओर (अयास्यः) बिना आयास के—बिना श्रान्ति के—जाना है; प्रकाश के पुंजों की पदवी को, अनथक परिश्रम कर, पाना है । तू (महे तुने) इस महान् ऐश्वर्य के लिए (ऊर्मिं न) भावना की एक लहर-सी को (बिभ्रत्) उठाये-उठाये (प्र-अर्षसि) गति कर रही है ।

मेरी जान ! तुझे क्या कहूँ, तू कौन है ? तू चमक जाती है । मैं तुझे चिनगारी कहता हूँ । तू रो पड़ती है । मैं तुझे गीला समझता हूँ । मुझे तेरा बोध होता ही दो दशाओं में है । ज्ञान की दशा में तुझ में प्रकाश प्रतीत होता है । भावना के समय तुझ में आर्द्रता होती है । तू चमकती है और उमड़ती है । उस आँख की तरह जो देख रही है और उस में दया के, प्रेम के, हर्ष के, सहानुभूति के आँसू उमड़-उमड़ कर थम रहे हैं ।

मेरी जान ! तू चाँद है—रस-पूर्ण ज्योति । तेरी चमक संसार को सुखाती नहीं, सरसाती है । खेतों में हरियाली लाती है । बुझ गए हृदयों को हर्षाती है, हुलसाती है ।

तो मेरी भावना के रस-भरे चाँद ! तुझे कहां जाना है ? इस पृथिवी का चक्कर काटते-काटते क्या तू उकता गया है ? तेरी आँख द्युलोक की ओर लग रही है । तू अपनी ज्योति बढ़ाना चाहता है ? अपनी कला का विकास करना चाहता है ?

तो इस का उपाय यही है कि गति कर। पृथिवी की ओट से जितना बाहर आयगा, जितना सूर्य के सम्मुख होगा, उतना अधिक प्रकाश-युक्त होता जायगा ।

हे मेरी आत्मा ! मुझे खुशी है कि तू "अयास्य" है—निरन्तर गति-शील है। अपने पार्थिव जीवन से ऊपर-ऊपर उठता चल। आध्यात्मिक उन्नति की इस भावना को जो जीवन-रस की तरंग बन कर तुझे निरन्तर बहाये जा रही है, मन्द न होने दे, मन्द न होने दे। तू निरन्तर बहता जा, द्युलोक की ओर निरन्तर बहता जा।

इन्द्र के महल को

३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः ।
३ १ २ ३ २
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१४॥

ऋषिः—अमहीयुः = पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेने वाला ।

(इन्द्रस्य) इन्द्र के (निष्कृतम्) सुसंस्कृत गृह को (गच्छन्) जाता हुआ (सोमः) सन्त (मृधः) हिंसा-वृत्तियों को (अपघ्नन्) हटाता हुआ, (अराव्णः) सब प्रकार की

कृपणताओं को (अपघ्नन्) दूर करता हुआ (पवते) बहता है—पवित्रता के प्रवाह लाता है।

विश्व सम्पत्तियों का घर है—इन्द्र का, सकल सम्राटों के एक सम्राट् का सजा हुआ महल है।

इन्द्र का प्यारा पुत्र सोम—जीव—अपने पिता के घर से भटक गया है और अब उस की खोज में है। वह उसे कहाँ ढूँढे?

अपनी इसी खोज में। प्रभु को सच्चे हृदय से ढूँढना क्या है? उसे अपने ही अन्दर पा लेना। मानव-हृदय ब्रह्माण्ड का सार है। वह बड़ा महल है तो यह छोटा। विश्व-पति का जो वैभव विश्व में विस्तृत हो कर बिखर गया है, यहां संक्षिप्त रूप में केन्द्रित—घनीभूत-सा हो रहा है।

मेरे मन! चल। शिशु बन कर चल। पिता के घर की तलाश करें। तलाश "पवमान" होने में है—आर्द्र हो कर वह पड़ने में—ऐसा आर्द्र होने में कि सब कड़ाइयाँ—कठोरताएँ—अपने आप द्रवीभूत हो जायें। मनों की कठोरता पारस्परिक हिंसा का रूप धारण कर रही है। मनुष्य को मनुष्य से संकोच है। हृदय खुलते नहीं, बहते नहीं। भाव की, भाषा की, कर्म की कृपणता हृदयों को कठोर बना रही है। आर्द्रता का रास्ता रुक रहा है। भाई-भाई गले मिलते तो हैं परन्तु तपाक से नहीं। पुत्र पिता को पिता कहता तो है परन्तु झिझक कर। उपासक की एक दृष्टि उपास्य पर लगी है, दूसरी अपनी सांसारिक सम्पत्तियों पर। भक्त ने प्रभु का

आवाहन किया है, परन्तु उसे डर है कि कहीं प्रभु मेरी सुन ही न लें, कहीं आ ही न जायें। मेरी पाप की पोटली धरा ही न लें। यही तो मेरा जीवन-सार है।

चंचल चित ने कहीं ओट ली।
छीन न लेना पाप-पोटली।
मेरा जीवन-सार
हर लोगे? सरकार!

कृपण भक्त प्रभु को कैसे पाये? भक्ति का रास्ता उदारता का है, मन की विशालता का। संकोच इस में बाधा-रूप है।

मेरी जान! तू सोम बन। बहने वाला, पवित्र निर्मल सोम बन। घनता ग्रन्थि है, इसे हटा दे, खोल दे। पूर्ण द्रव हो, आंसुओं की बाढ़ में सब मल बहा दे। इन्द्र के सजे हुए महल को जाना है। आत्मा की सुसंस्कृत, निर्मल नीरज पदवी को पाना है। तो तू स्फटिक-सा स्वच्छ बन—द्रवीभूत स्फटिक-सा। किरण बन, लहर बन, बदली बन, शिशु बन। ये सब "सोम" हैं। सन्त बन—प्रभु का प्यारा। इन्द्र की आँखें तुझे देखें, प्रेम के ओठों से तुझे चूमें, चाटें, तेरी निष्पापता का—विमल पवित्रता का—पान कर-कर प्रसन्न हों।

॥ ओ३म् ॥

पञ्चम खंड

बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

सुनहरी चश्मा

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
१ २ ३ १र २र ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः॥१॥

ऋषिः—भारद्वाजादयः सप्त ऋषयः = भारद्वाजादि सात ऋषि ।

(सोम) ऐ मेरी जान ! (धारया पुनानः) तुम धारा-रूप में पवित्रता का प्रवाह ला रही हो । (अपो वसानः) तरंगों की ओढ़नी ओढ़े (अर्षसि) फिर रही हो । (रत्नधा) रति को धारण किये (ऋतस्य योनिम्) वस्तु-सत्ता के मूल पर (आ-सीदसि) आ बैठी हो । (उत्सः देवः हिरण्ययः) तुम एक दिव्य स्रोत हो—हितकारी तथा रमणीय स्रोत हो।

वस्तु क्या है ? यह जो रंग-विरंगा चित्र हमारी आँखों के सम्मुख विद्यमान है, इस का मूल-रूप क्या है ?

प्रकृति-वादी कहता है—प्रकृति। जड़ परमाणु आपस में मिल जाते हैं और इस का परिणाम यह सारा जगत् होता

है। परमाणु की न लम्बाई है, न चौड़ाई, न ऊंचाई। इस की सत्ता ऐसी ही है जैसी ज्यामिति के विन्दु की। विन्दु मिलते हैं, रेखा वन जाती है। रेखा में लम्बाई होती है, चौड़ाई और ऊंचाई नहीं। रेखायें मिलती हैं, इस से स्तर (Plane) वन जाता है। स्तर में लम्बाई चौड़ाई होती है, ऊंचाई नहीं। स्तर मिलते हैं, इन से ठोस वन जाता है। ठोस में लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई—तीनों गुण पाये जाते हैं।

कोई गणितज्ञ, कोई दार्शनिक इस बात को नहीं मान सकता कि विन्दुओं के संयोग से रेखा वन जाय या रेखाओं के संयोग से स्तर की सृष्टि हो जाय। यदि एक विन्दु में लंबाई नहीं तो विन्दुओं की किसी संख्या के संयोग में भी लम्बाई कहां से आयगी? विन्दु विन्दु है और रेखा रेखा।

परमाणु विन्दु हैं तो संसार की रेखायें और स्तर उन से नहीं वन सकते।

चित्र काग़ज़ है? रंग है? रौग़न है? क्या है? क्या इन सव के मेल का नाम चित्र है? काग़ज़, रंग तथा रौग़न—इन तीनों वस्तुओं को मिला तो कोई भी सकता है। लेकिन चित्र चित्रकार द्वारा ही वन पायेगा। चित्र की ख़ूबी का ज्ञान उस का विश्लेषण करने से न होगा। काग़ज़, रंग तथा रौग़न की राशि के माप से न होगा। वह तो चित्र में घुस जाने से, उस की रमणीयता की रति पैदा करने से—"रत्नधा" होने से प्राप्त होगा।

विश्व एक रत्न है—रमणीय रत्न। मेरी जान! तू इस

रमणीयता में रत हो जा। तन्मय हो कर उस चतुर चितेरे की चित्र-कला को देख। उस का आनन्द ले। वस्तु अपना शुभ स्वरूप तेरे सामने रख देगी।

संसार चीरने-फाड़ने की चीज़ नहीं। विश्व-वाटिका की पत्ती-पत्ती रमणीय है। वाटिका इन पत्तियों के मेल से बनी है सही। पर तू इन पत्तियों को बिखेर कर फिर मिलाने की कोशिश न कीजियो। इस मेल में कोई जादू है जो तेरे ज्ञान से बाहर है। तू इस मेल का मज़ा ले। इस का चमत्कार देख।

रमते राम! यह मज़ा तेरे अन्दर भी मौजूद है। तू भी तो उसी चितेरे का चित्र है। मेरी जान! तू इस चित्र की जान है। जो जीवन-प्रवाह सम्पूर्ण सजीव संसार में प्रवाहित हो रहा है, उस का स्रोत कहां है? चप्पे-चप्पे पर जीवन उमड़ रहा है। अन्य स्रोत तो तेरे बाहर हैं। पर जीवन का एक झरना तेरे अपने अन्दर भी तो है। वह अलौकिक झरना! सुन्दर झरना! सुन्दर के साथ हितकारी भी! ऐसा नहीं कि देखने में तो सुन्दर हो परन्तु पीने में हालाहल का घूँट। नहीं, आत्म-रस ही सब रसों का रस— सब अमृतों का अमृत है। यह सुनहरी चश्मा, ऐ मेरे आत्माराम! तू है। अन्य चश्मे रुक जायें। तेरा प्रवाह नहीं रुकता। अन्य चश्मे गदले हो जायें। तू सदा पवित्र है। सदा पवित्र है। धारा-रूप में पवित्र। रुका हुआ पानी सड़ जाता है। मेरी आत्मा के चश्मे! तुझे रुकना

नहीं। तुझे तरंग बने रहना है। तरंग ही तेरा विछौना है और तरंग ही तेरा ओढ़ना। तू अपनी मस्ती की तरंगों में बहता जा। योगियों ने इस तरंग ही का नाम निष्काम कर्म रखा है। निष्काम कर्म एक तरंग है—भोली मस्तानी तरंग। "अपो वसानः"—कर्म में वसा हुआ, तरंग में ढका हुआ। कर्म की तरंग में, तरंगमय कर्म में, बसा हुआ, ढका हुआ।

युवराज

परीतो पिञ्चता सुतं सोमो य उत्तम ँ हविः।
दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुपाव सोममद्रिभिः ॥२॥

ऋषिः=भारद्वाजादयः सप्त ऋषयः=भारद्वाजादि सात ऋषि।

(सोमः यः उत्तमं हविः) मेरी जान जो उत्तम हवि है, (इतः) अत्र (सुतम्) उस प्रकट हुये ब्रह्म-सुत—अमृत-पुत्र को (परि-पिञ्चत) चारों ओर से सींचो। (यः) जिस (नर्यः) मानव सन्तान ने (अप्सु अन्तः) तरंगों के बीच में (दधन्वान्) धारणा की डुबकी लगाई, (अद्रिभिः सोमम् आ-सुपाव) उस ने बादलों से सोम-रस खींच लिया।

मेरी देह-पुरी के देवो! मेरी आँखों में, कानों में, नासिकाओं और मुख में बैठे इन्द्रिय-देवताओ! वह देखो! राज-कुमार आ गये। आत्माराम के दर्शन हुए। विश्व के राजा—इन्द्र—का अमृत-पुत्र अपने पिता की नगरी में प्रकट

हुआ। आज उसे युवराज बनाना है। युवराज पद के लिए उस का अभिषेक करो। स्थान-स्थान का जल एकत्रित करो। दर्शन-रस, श्रवण-रस, घ्राण-रस, स्पर्श-रस, और रसना-रस—इन सब रसों से उस का स्नान कराओ। श्रवण से मनन की, मनन से निदिध्यासन की सीढ़ी पर ले जा कर इसे बार-बार अध्यात्म-गंगा की लहरों में डुबकी लगवाओ। जीवन का आनन्द इन्हीं रसों में है। जो सोम-रस बादलों की उड़ती गरजती घटाओं के हाथों पहाड़ों की ऊँची उन्मुख चट्टानों के मुख में टपकाया जाता है वह ध्यान की डुबकी लगाने वाले के हृदय में अपने आप उमड़ पड़ता है। पहाड़ की ऊँची से ऊँची चोटी ध्यान की छोटी से छोटी उड़ान से नीचे रह जाती है। सोम-पान ही वास्तव में "मेरी जान" का—विश्व-राष्ट्र के युवराज का अभिषेक है।

अभिषेक द्वारा पशु यज्ञिय बनाया जाता है। उसे नहला धुला कर वेदी के लिए तैयार करते हैं। युवराज की पदवी भोग-विलास की पदवी नहीं, आत्म-बलिदान की वेदी है। राज-कुमार अब पिता के अर्पण हो रहे हैं। जैसे पिता का सर्वस्व राष्ट्र के अर्पण है, ऐसे ही अब राज-कुमार भी यज्ञिय पशु बन रहे हैं। वे सर्वस्व स्वाहा करेंगे। और तो और, आज वे अपने आप को प्रजा पर न्योछावर कर देंगे। युवराज बनने का यही रहस्य है। उत्तम हवि अपना बलिदान है—सोम का—अपनी जान का बलिदान।

मेरे आत्मा! क्या तू कभी इस प्रकार सिंचा है?

युवराज पद के लिए अभिषेक ? यज्ञ की वेदी के लिए अभिषेक ? विश्व के उद्धार के लिए अभिषेक ? वास्तव में "उत्तम हवि" तू है। राजा का अपना प्यारा पुत्र, इन्द्र का ज्येष्ठ "सुत"।

मेरी जान ! बनो युवराज ॥
देह-पुरी के सकल देव-गण
खड़े सजाये साज।
कर अभिषेक अनूप रसों से
पहनो अनुपम ताज।
सिंहासन बलिदान-वेदि है,
चढ़ो राज्य के काज।
हो अभिषिक्त हव्य बन जाना
रखना कुल की लाज।

———

परदा-नशीन

१ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
३ २ ३ २ ३क २र ३ २ ३ २ ३ १ २
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिस्सदो वनेषु दध्रिषे ॥३॥

ऋषिः—अत्रिः = त्रिगुणातीत।

(सोम) ऐ मेरे आत्मा ! (अव्यया वाराणि तिरः) तू [प्रकृति के] स्थिर रोमांच को आवरण बना कर (अद्रिभिः स्वानः) बादलों की लय में लय मिला रहा है। (हरिः) चित-चोर ने (जनो न) घर वाले की तरह (चम्वोः पुरि)

पृथिवी और आकाश की नगरी में (आ-विशत्) भावना-सहित प्रवेश कर (वनेषु सद्‌: दधिषे) ऊजड़ में बस्ती बसा रखी है।

आत्मा आवरणों के पीछे छिप रहा है। भौतिक जगत् ने आध्यात्मिक तत्व को ढक-सा रखा है। प्रतीत ऐसा होता है कि सब प्रकृति की करामात है। प्रकृति नित्य है। इस लिए आवरण नित्य हैं।

प्रकृति का असली स्वरूप समझने के लिए किसी पहाड़ पर, किसी वन में, किसी नदी के किनारे अकेले कुछ समय जाने की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में आत्मा आवरण के पीछे से बोलता है। हलकी-हलकी गुंजार आती है और हृदय के कानों को कोई दिव्य संदेश सुना जाती है। ऐसे अवसर पर यदि बादल भी बरस जाय तो वह दिव्य नाद बूँदों की टप-टप में और स्पष्ट सुनाई देने लगता है। वर्षा की स्वर आत्मा की स्वर के साथ मिल जाती है और ऐसे अलौकिक संगीत की सृष्टि होती है जो कानों की पहुँच से बाहर है। संसार की और हमारी लय एक है। बादल हमारे मित्र हैं, पहाड़ हमारे मित्र हैं, नदियां हमारी मित्र हैं—हृदय को सहसा यह अनुभूति होने लगती है। वृक्षों की डालें वायु के झोंकों को अपना साथी बना, मानो हमारा आलिंगन करने को बाहें पसार रही होती हैं।

जमीन और आसमान पहले सुनसान थे। अब जैसे उन का घर वाला आ गया है। दसों दिशाएँ उस का स्वागत

कर रही हैं। विश्व आविष्ट अवस्था में है। उस पर भावना का भूत सवार है। जंगल में मंगल हो गया। निर्जीव जगत् सजीव हो उठा। पत्ती-पत्ती को, नहीं, कंकरी-कंकरी को रोमांच हो आया। चित-चोर आ गया! चित-चोर आ गया! वह है कहां? इन खड़े हुये वालों से—रोंगटों से—पूछो। इन के पीछे छिप रहा है। परदा-नशीन ने वालों को—रोमांच को—परदा-सा बना लिया है। उन के पीछे बैठा गा रहा है।

मेरी जान! प्रकृति का यह रोमांच तो सदैव बना रहता है। मोहन इन के पीछे गा रहा है। वंशी बजा रहा है। इन बनेले वालों में उस नट-नागर की वस्ती सदा बसी है। सदा बसी है।

सोम का सुरीला झरना इन वालों के—रोंगटों के—स्थिर आवेश में है—प्रकृति के इस स्थायी रोमांच में।

जाग रहा मस्ताना

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।
३ १र २र ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम्॥४॥

ऋषिः—विश्वामित्रः = सब का मित्र।

(सोम) ऐ मेरी जान! तुम (देववीतये) देवताओं की तृप्ति के लिए (अंशोः पयसा पिप्ये) [इस नई फूटी] कोंपल के रस से इस प्रकार बढ़ी हो (सिन्धुर्न अर्णसा)

जैसे नदी पानी में । तुम (जागृविः मदिरो न) जागते हुए मस्ताने की तरह (मधुश्चुतं कोशम् अच्छ) मिठास टपका रहे कोष की ओर [बढ़ रही हो]।

नदी सूख रही थी, सिकुड़ रही थी। पहाड़ पर बदली बरस गई। नाले फूट-फूट कर बहने लगे। नदी में बाढ़ आ गई। अब वह किनारों तक भर-भर कर—उन से ऊपर उछल-उछल कर—बह रही है।

मेरी नन्ही-सी जान तंग थी। उस का संकीर्ण स्वार्थ-मय जीवन नीरस था, शुष्क था। उसे अपने ही में बन्द रह कर मजा नहीं आता था। स्वार्थ में आनन्द कहाँ? देवताओं की खुशी परोपकार में है।

मेरी देह-पुरी के देव भोगों में रत थे। आँखें सुन्दर दृश्यों पर मस्त थीं। कान सुरीले रागों में मग्न थे। उन्हें क्षण-भर के लिए हर्ष प्राप्त हो जाता था। फिर न मीठी लय में ही आनन्द आता था, न रंग-बिरंगे चित्रों में। मन ऊब जाता था। मीठा रस कुछ मात्रा तक रसीला प्रतीत होता था। उस के पीछे वह स्वयं कड़वा लगने लगता था।

सान्त उपभोग, क्षणिक आनन्द, भौतिक विलास—यह एक मृगतृष्णिका थी। उस में चमक थी, रस न था। इस चमकती रेत में एक विचित्र कोंपल फूटी। मरु-स्थल में हरियाली दीखने लगी। वह कोंपल भक्ति की थी, श्रद्धा की, आस्था की, आध्यात्मिक अनुभूति की। भौतिक सुन्दरता की ओट में किसी अनन्त, असीम सुन्दर की झाँकी

दिखाई दी। सीमित ध्वनियों की परिधि में असीम सन्देश सुनाई दिया। कोंपल की पत्तियों में रस ठाठें मार रहा था। वह उमड़ा। मेरी अध्यात्म की गंगा में बाढ़ आ गई। मेरी देह-पुरी के देव इस बाढ़ में डूब गये। वे भक्ति-रस में भीग गये। अब आँख भौतिक रंगों को नहीं, इन रंगों की आत्मा को देखती है। आत्मा निस्सीम है। उस की सुन्दरता की भी हद नहीं। कान शब्द को नहीं, शब्द की ओट से झांक रहे आकाश का श्रवण करता है। आकाश अनन्त है। उस की रमणीयता का भी अन्त नहीं। आँखों को, कानों को— देह-पुरी के सभी देवताओं को तृप्ति अब मिली है—न तृप्त होने वाली असीम तृप्ति।

इस नई कोंपल के नशे ने मेरे शरीर और आत्मा दोनों को मस्त कर दिया है। मैं अपनी सुध-बुध खो बैठा हूँ। मैं वह देखता हूँ जो देखने में नहीं आता। मैं वह सुनता हूँ जो सुनने की परिधि से बाहर है। मस्ताना हूँ, पर जाग रहा। नीरसता को भूल गया हूँ। स्वार्थ का ध्यान ही नहीं रहा। संकीर्णता विस्मृत-सी हो गई है। पर वह मिठास का स्रोत, जिस की बूँद-बूँद से अनन्त मधुरता टपक रही है, मेरी आँखों से ओझल नहीं हुआ। मेरा प्रत्येक पग उस मधु के कोष की ओर उठ रहा है। अनजाने में भी प्रगति आनन्द-सागर की ओर है। यह मस्ती ही तो वास्तविक जागृति है। जागती हुई मस्ती! मस्तानी जागृति!

हरियाली की घोड़ी पर सवार

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २
सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधिष्णुभिरवीनाम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥५॥

ऋषिः—विश्वामित्रः = सब का मित्र ।

(उ) वह ! (सोमः) प्रियतम (अवीनाम्) चेतना—भावना की (अधिष्णुभिः सोतृभिः) चोटियों पर चढ़े हुए यजमानों के साथ (स्वानः) गाता हुआ (हरिता धारया याति) हरी-भरी धार पर सवार हो कर इस प्रकार जा रहा है (अश्वया इव) जैसे घोड़ी पर। (मन्द्रया धारया याति) वह मस्तानी धार पर सवार हुआ जा रहा है ।

प्रेमिक प्रियतम की तलाश कर रहा है। उस की आँखें प्यारे की छवि की एक झाँकी देख लेना चाहती हैं। उस के कान उस परम गवैये के अपने मुँह से दो शब्द सुन लेने के उत्सुक हैं ।

भक्त मस्त हो कर प्रभु की महिमा के गीत गा रहा है। मस्ताने ! जरा अपने ही गीत पर अपने कान लगा ले। तेरी लय में प्यारे की लय मिल रही है। जब तू भावना के आवेश में आ कर अपनी सुध-बुध भुला बैठता है और तेरा गीत तेरा अपना नहीं रहता, वह गीत प्यारे का होता है। वह परम गवैया अपनी मधुर तानें उड़ाने के लिए तेरे अनजाने में तेरी लय उधार ले लेता है। वह स्वयं भी अपने

आलाप की मधुरिमा पर नाच उठता है और तुझे भी दीवाना बना कर नचाता है ।

क्या तुझे पता नहीं लगता कि तेरे भूरे ओठों में ऐसे समय एक विशेष तरावट आ जाती है ? तेरे अंग-अंग में एक लहर दौड़ जाती है । वह तेरे प्यारे की स्नेह-लहरी है । प्रेम की हरी-भरी धारा है । प्यारा इसी लहर पर सवार हो कर आता है । वह गया—प्यार की धार के साथ गया—झूमती-झामती मस्तानी धार के साथ । बांकुरा वीर किस आन-बान के साथ जा रहा है । बहती हुई घोड़ी पर सवार है । लहलहा रहे नये जीवन की हरी घोड़ी पर ।

मटियाला

तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवे दिवे ।
पुरूणि बभ्रो निचरन्ति मामव परिधींऽरति ताँ इहि ॥६॥

ऋषिः—विश्वामित्रः = सब का मित्र ।

(इन्दो सोम) हे मेरी रसीली जान ! मैं (दिवे दिवे) दिन प्रति दिन (तव सख्ये) तुम्हारे सान्निध्य का (रारण) आनन्द ले रहा हूँ । (बभ्रो) मेरी भूरी मटियाली जान ! (पुरूणि) अनेक [बुरी प्रवृत्तियां] (माम्) मुझे (अव-निचरन्ति) नीचे ले जाती हैं । तुम (तान्) उन (परिधीन्) परिधियों—विघ्न-बाधाओं—को (अति इहि) पार कर आओ । मेरा उद्धार तभी होगा ।

मनुष्य का वास्तविक सखा उस का अपना आत्मा ही है। अन्य सखा विद्रोह कर जायें तो कर जायें, यह सखा किसी भी अवस्था में साथ नहीं छोड़ता। इस के सखित्व में जो रस है—जो आनन्द है, वह दूसरे किसी के सखित्व में है ही नहीं। कहीं मनुष्य अपने आप को अपना मित्र बनाये भी।

मित्र उठाते भी हैं और गिराते भी। गिराने वाले मित्र बहुत हैं, उठाने वाले कम। क्षण-क्षण में मनुष्य के अपने अन्दर ऐसी प्रवृत्तियां उठती रहती हैं जो उसे रसातल की ओर ले जाने वाली हैं। प्रलोभन बड़ी सज-धज से आते हैं। भोग-विलास का सुहावना बाना धारण कर लेते हैं। इन का उपाय क्या है ? "बभ्रु" आत्मा का ध्यान। "बभ्रु" धूसरित को कहते हैं—मटियाले भूरे को। जो गर्मी-सर्दी को सहता-सहता पके धूसरित रंग का हो गया हो, वह तपोमूर्ति, बाहर की सजावट से विरत आत्मा "बभ्रु" है।

मेरे आत्मा ! तू बभ्रु रूप धारण कर के मेरे सम्मुख आ जाया कर। मुझे अपनी तपोमय मूर्ति का दर्शन दे जाया कर। दिखावे के मित्र सब बनावटी होते हैं। इन्हें जहाँ आंच लगी, वहीं भागते नजर आयेंगे। तप की अग्नि में तपा हुआ नवयुवक, अनुभवों से परिपक्व हो गया तपोमूर्ति गृहस्थ या वानप्रस्थ विश्वास के योग्य होते हैं।

मेरी जान ! मुझे तेरा विश्वास है। भोग-विलास के बीच में मुझे कभी-कभी तेरे बभ्रु-रूप की झाँकी मिल जाया

करती है। यों तो कोमल अंग चित्त को लुभाने लेते हैं। विलासी शरीर सुखी शरीर प्रतीत होता है। परन्तु यह लोभ तथा यह सुख क्षणिक है। स्थिरता कठोरता में है। इन लोभायमान कोमलताओं की परिधियों को, ऐ मेरे कठोर आत्मा! अपने बभ्रु रूप द्वारा सुगमता से पार कर लीजियो। तेरी इन कभी-कभी की झाँकियों से मुझे ढारस बँधता है कि मेरा उद्धार हो सकता है। ये झाँकियां कुछ अधिक हो जायें। मेरा वास्तविक स्वरूप "बभ्रु" है। कैसा सुन्दर कमनीय रूप है! कमाया हुआ, तपाया हुआ, चमक रहा, गंभीर, सलोना स्वरूप!

तप का नाद

मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि ।
रयिं पिशंगं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥७॥

ऋषिः—वनिष्ठः = अत्यन्त कमनीय ।

(सुहस्त्य) ऐ अच्छे हाथों में रहे! तुम (मृज्यमानः) मांजे जा कर (समुद्रे वाचम् इन्वसि) [तरंगों के आगार] समुद्र में आवाज़ उठाते हो। (पवमान) ऐ पवित्रता लाने वाले! तुम (बहुलम्) बहुत (पुरुस्पृहम्) लोक-प्रिय (पिशंगम्) सुन्दर (रयिम्) सम्पत्ति को (अभि-अर्षसि) सब ओर से पाते और प्राप्त कराते हो।

मेरी जान ! तुम्हे मांजा जा रहा है। खूब मांजा जा रहा है। संसार भर की शक्तियां तेरी गुरु हैं। आचार्य ने अपना शिष्य बनाते हुए तुझे कहा ही तो था कि अग्नि तेरा शिक्षक है, प्राण तेरा शिक्षक है। तुम शिशु बन कर इन वृद्धों के हाथों में आ पड़ी हो। चन्द्र तथा सूर्य की किरणें, वायु के झोंके, तरंगों के थपेड़े अंगुलि बन-बन कर तुम्हें उठाते, खिलाते, लोरियां दे-दे कर सुलाते और जगाते हैं। कोई लाड से, कोई प्यार से तुम्हें सँवार ही तो रहा है। अग्नि की ज्वाला तेज हुई। तुम झट तलमला उठीं। यह तुम्हें मांजने का उपक्रम है। हवा ठंडी चली, तुम थर्रा उठीं। यह तुम्हें सबल बनाने का उपाय है। ऐसे सयाने गुरु-वर्ग के हाथों तुम सुशिक्षित हो कर निकल रही हो।

तुम्हारी आवाज़ इस की साक्षि है। तुम्हारी आवाज़ में अब तरंग है, वह निकलने की शक्ति है। यह आरण्य-रोदन नहीं कि जंगल में चीख उठी और उसे किसी ने श्रवण ही न किया। यह तो समुद्र का संगीत है। इस में लहरें हैं। एक लहर दूसरी लहर को उठाती है और दिग्दिन्त को गुँजा देने वाली संगीतमय गर्ज पैदा करती है। यह नाद हृदय से उठा है और हृदयों में घर कर रहा है। इस नाद के पीछे सुशिक्षा है, वर्षों का ध्यान है, तप है। यह व्यर्थ कैसे जा सकता है ?

सफलता इस नाद का स्वागत करती है। लक्ष्मी इस पर वारे-न्यारे होती है। लोक-प्रियता इस के अंग-संग रहती

है। समृद्धि उन के चरणों की दासी है। सुशिक्षा का, गुरु-शुश्रूषा का, चालियों वर्षों की तपस्या का नाद निष्फल कैसे जा सकता है? आत्मा की पुकार आत्माओं को प्रभावित कर के रहेगी।

मस्त मनीषी

अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्।
समुद्रस्याधिविष्टपि मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥८॥

ऋषिः—विश्वामित्रः = सब का मित्र।

(मनीषिणः) मन का संयम करने वाले (मदच्युतः) मद टपकाते (मत्सरासः) मस्ती के सरोवर (आयवः) चलते-फिरते (सोमासः) आध्यात्मिक संजीवन के स्रोत (समुद्रस्य विष्टपे अधि) समुद्र की चोटी पर खड़े (मद्यं मदम्) छलकती मस्ती का (अभि-पवन्ते) सब ओर से प्रवाह चला रहे हैं।

रूखे स्वभाव के मुल्लाने से मन का संयम नहीं हो सकता। मन का संयम एक मस्ती है। एक सरस कार्य है जो रस में भीगे मस्त लोग ही कर सकते हैं। जिस ने प्रेम-प्याला मुँह से लगा लिया, भोग-विलास के हलाहल को वही अपने ओठों से दूर रख सकता है।

मुल्ला ने रोजा रक्खा और हर एक से लड़ने लगा। माथे पर त्यौरी चढ़ी है। बात-बात पर नाक-भौं सिकुड़ जाती है। बात करो तो काटने को दौड़ते हैं। यदि अनशन का फल क्रोध है तो अच्छा है, अनशन न किया जाय।

मुख पर हर्ष की छटा छिटकी रहे। ओठों पर मुस्क्यान की लहर निरन्तर दौड़े—प्रति-क्षण खेले। यह एक सिद्धि है जो संयम के नाम पर भी गँवाने की चीज़ नहीं। यह लाख योगों का एक योग है—लाख अभ्यासों का एक अभ्यास। इसे हाथ से नहीं देना, नहीं देना। व्रत के नाम पर नहीं देना, तपस्या के नाम पर नहीं देना।

सच्चा मनीषी हर्ष का सरोवर है, जिस के आचार-व्यवहार से, गति-मति से मस्ती टपक रही हो—खुशी झलक रही हो। ऐसा तरंगित हृदय तरंगों के समुद्र की चोटी पर खड़ा है। उस के मानस-सागर में भावना की पराकाष्ठा हो गई है। वह चलता फिरता सोम है—मनुष्य के चोले में मस्ती का स्थिर झरना। विष का प्याला वह किस लिए मुँह से लगाय? आखिर एक समय में एक ही प्याले का पान किया जा सकता है—या सोम के प्याले का या सुरा के घूँटों का। सोम देवताओं का रस है, सुरा राक्षसों का। भक्त ने दिव्य रस पसन्द किया है।

सोम-रस संचारी रस है—संक्रामक रस। इस का पान करने वाला इस प्याले को दूसरों के ओठों तक पहुँचाये बिना रह ही नहीं सकता। देवताओं के अन्न सभी एक दूसरे

के मुँह में डाले जाते हैं। यहाँ "पचन्ति आत्मकारणात्" नहीं होता। "केवलादी" "केवलाद" समझे जाते हैं। यह नशा पिलाया जाता है और पिलाते-पिलाते ही इस संचारी रस का स्वयं पान किया जाता है। सच तो यह है कि यहाँ दूसरों के ओठों पर जीभ फिरती देख कर अनजाने में अपने ओठों पर अपने आप जीभ फिर जाती है। भक्त बालक ही तो है, जो औरों को हँसता देख कर खूब क़हक़हे लगाता है। खिलखिला कर हँसता है और नहीं जानता कि क्यों ? मेरी जान ! हँस ! हँस !! और यह न जान कि क्यों ?

सरस यज्ञ

३ १ २ ३ १२३ २ ३ २ ३ १२ ३ २
पुनानः सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः ।
१र २र ३१ २ ३१ २
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञं मिमिक्ष णः ॥९॥

ऋषिः—काश्यपः = द्रष्टा।

(सोम) ऐ मेरे जीवन-तत्व ! प्राणि-मात्र के आत्मा ! तू (जागृविः पुनानः) सजग हो कर पवित्रता ला रहा है। तू (अव्याः वारैः) चिति के बालों [भावनामय रोमांच] के साथ (परि प्रियः) सब ओर से प्यारा लग रहा है। (अंगिरस्तम) ऐ अंग-अंग के रस ! प्राणों के प्राण ! (त्वं विप्रः अभवः) तू ब्राह्मण [ऋत्विज] बन गया है। (नः यज्ञं मध्वा मिमिक्ष) हमारे यज्ञ को मधु से सेंचने में प्रवृत्त हो।

मेरी जान ! तुम जब से जगी हो, मेरे पाप नष्ट हो गये हैं। मैं अपने अंग-अंग में एक पवित्रता-सी अनुभव करता हूँ। मेरी देह-पुरी जब से तुम्हारा ठिकाना बनी है, तब से इस में पाप की प्रवृत्ति का अभाव-सा हो गया है। पहिले भी तुम थीं, पर सोई हुई। जब से इस पुरी के देवों को तुम्हारे जाग उठने का ज्ञान हुआ है, वे सावधान हो गये हैं। उन्हें बोध हो गया है कि वे इन्द्र के हैं—आत्मा के। इन्द्र निर्मल है, स्वच्छ है। इस लिए उस के गण भी स्वच्छ हैं, निर्मल हैं।

तुम्हारी सत्ता की अनुभूति से मेरे अंग-अंग में आठों पहर रोमांच की अवस्था रहती है। प्यारा मेरे अपने अन्दर है—यह सोचते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। प्यार की एक लहर-सी मेरी नस-नस, नाड़ी-नाड़ी में दौड़ जाती है। इस अनुभूति का वर्णन मैं किन शब्दों में करूं ?

मेरे आत्मा ! मेरे प्राणों के प्राण ! मेरे अंग-अंग के रस ! क्या तुम ब्राह्मण हो—ब्रह्म-पुत्र ? प्रभु के अमृत-सुत ? तुम संपूर्ण देह के लिए समर्पित हो। देह-पुरी के देवों का संपूर्ण आनन्द तुम्हारी सरस सत्ता के कारण है। तुम वास्तव में ब्राह्मण हो।

हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! हम यज्ञ करने लगे हैं। मेरे शरीर का एक-एक अणु यज्ञ में प्रवृत्त होने लगा है। तुम इस यज्ञ के ब्रह्मा हो जाओ। इस जीवन-अनुष्ठान के अधिष्ठाता बनो। अपनी विप्र-वृत्ति से इस में परोपकार का बीज बो दो। इस

जीवन-वृक्ष को सरसा दो। इस में रस भर दो। हमारा यज्ञ सूखा क्रिया-कलाप न रहे। इस में तुम्हारी सत्ता का मिठास हो। आत्मवान् यज्ञ, सच्चे मेधावी विप्र का यज्ञ, अंगिरस्तम का यज्ञ यान्त्रिक नहीं, ज्ञान से, भावना से, प्रेम से और श्रद्धा से परिपूर्ण होगा।

आत्म-बोध के बिना तो जीवन नीरस ही था। जब से आत्मा की अनुभूति हुई है, मानो घर में घर वाला आ गया है। उस के आते ही संपूर्ण घर में चहल-पहल है। खुशी है। मंगल है। स्वागत के समारोह हो रहे हैं। यज्ञ के समारम्भ होने लगे हैं। संपूर्ण इन्द्रियाँ यजमान बन रही हैं। देवों के देव! आओ। आसन लो। यज्ञ को सफल करो, सरस करो। इन अपने यजमानों को अपने शुभागमन से निहाल कर दो।

हज़ार धार का प्रवाह

१ २ ३ २३ १ २ ३१ २ २३
इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः।
३१२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः ॥१०॥

ऋषिः—जमदग्निः = चलती फिरती आग।

(सोमो मरुत्वते सुतः) सोम-रस की पैदायश प्राणों के पति के लिए हुई है। (मदः इन्द्राय पवते) यह मस्ती इन्द्रियों के राजा के लिए एक पवित्र प्रवाह के रूप में बह रही है। (सहस्रधारः अति-अव्यम् अर्षति) यह हज़ार

धार का प्रवाह रोंगटे-रोंगटे से पार हो रहा है। (ई) अरे! (आयवः तं मृजन्ति) आती-जाती तरंगें इस का संशोधन करती हैं!

सोम-रस एक नशा है—अत्यन्त आह्लाद-कारक, अत्यन्त हर्षोत्पादक नशा। इस का पान करने के लिए शक्ति चाहिये। श्वास में शक्ति हो, इन्द्रियों में बल हो, तब इस रस का स्वाद लिया जा सकता है। निर्बलों के लिए यह नशा नहीं—निरिन्द्रियों के लिए यह मस्ती नहीं। भक्ति बलवानों का नशा है। प्रभु के भक्त की फुंकार से पापी संसार थर्रा उठता है। पाप का कलेजा कांप जाता है। भय डर कर भाग जाता है। प्रभु का भक्त संयमी होता है, पवित्र होता है। इन्द्रियाँ उस के इशारे पर नाचती हैं। वह दास नहीं, आर्य होता है।

जब प्रभु की भक्ति का नशा सहस्र-धार हो कर रोम-रोम से वह निकलता है, तब भावना के उस परम पुनीत प्रवाह के क्या कहने? इस प्रवाह को और किस चलनी में छानना? सात्विक रोमांच स्वयं एक चलनी है—चिति की, पवित्र भावना की चलनी। जो आता-जाता भाव इस चलनी में से गुज़र गया, वह स्वयं पवित्र हो गया। प्रभु की भक्ति का सहारा ले कर राष्ट्र-भक्ति, देश-भक्ति, विश्व-भक्ति, सब अत्यन्त पवित्र हो जाती हैं। उन में आध्यात्मिकता की लहर-सी दौड़ जाती है। वे पार्थिव भावना न रह कर एक दिव्य साधना बन जाती हैं। प्रभु-भक्त को राष्ट्र राष्ट्र नहीं,

देश देश नहीं, विश्व विश्व नहीं—ये सब स्वयं प्रभु की प्रतिकृतियां प्रतीत होती हैं। वह दरिद्रों में दरिद्र-नारायण के, शिशुओं में बाल लीला-धर के, अबोध बालाओं में "मातृ-शक्ति" के दर्शन करता है। ये मूर्तियां आने जाने वाली, क्षण-भर की छायामात्र-सी हैं। इन की आधार-भूत वह अमूर्त वात्सल्यमयी जगदम्बा है जो वृद्धा भी है और बाला भी, जो नित नई है और हमेशा पुरानी। वह ध्रुव सत्य है—अविकृत सत्य। सोम उसी के स्तनों का दूध है, उसी की आँखों के प्रेमाश्रु हैं।

भोले मनुष्य प्रभु-भक्ति के रस को देश तथा राष्ट्र की भक्ति में छानना चाहते हैं। उन की दृष्टि में प्रभु-भक्ति देश-भक्ति तथा समाज-भक्ति का रूप धारण कर पवित्र होती है। वास्तव में प्रभु-भक्ति के ये सब सामयिक रूप हैं। और जब तक ये उस के रूप न हों, इन में पवित्रता, ध्रुव निर्मलता नहीं आती।

अन्नपूर्णा

१ २   ३ १ २ ३ १र   २र ३   १ २
पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या ।
१ २ ३ १   २ ३ १र   २र   ३ १ २   ३ २
त्वं समुद्रः प्रथमे विधर्मन् देवेभ्यः सोम मत्सरः॥११॥

ऋषिः—वशिष्ठः = अत्यन्त कमनीय।

(सोम) ऐ आध्यात्मिक संजीवन के प्रवाह! (त्वं समुद्रः) तू समुद्र है। (प्रथमे विधर्मन्) धर्म की प्रथम व्यवस्था में

तू (देवेभ्यः मत्सरः) देवताओं के लिए मस्ती का सरोवर है। (वाजसातमः) अत्यन्त अन्न, अत्यन्त बल, अत्यन्त ज्ञान देने वाला हो कर तू (विश्वानि वार्या अभि) ग्रहण करने योग्य सभी सम्पत्तियों पर सब ओर से (पवस्व) पवित्रता की बाढ़ ला।

विश्व की प्रत्येक वस्तु ग्रहण करने योग्य है। ठीक प्रयोग किया जाय तो हालाहल विष भी अमृत का ही काम देता है। मनुष्य चीते और शेर को सधा लेता है। उन को अपने इशारे पर नचाता है। खेती के लिए खाद किन पदार्थों से तैयार किया जाता है ? यह मनुष्य की बुद्धि का कौशल है। दरियाओं पर पुल बाँध दिये गये हैं। पानी की धार को नियमित कर नहरें निकाल ली गई हैं। गिरते पानी के भयङ्कर प्रपातों को बिजली का सोता बना लिया गया है। मनुष्य हवा में उड़ता है, पानी में बहता है, पहाड़ पर टहलता है। वह शक्ति कौन सी है जिसे मनुष्य ने अपनी शक्ति के अधीन नहीं कर लिया ? कोले की खान सोने की खान बन रही है। लोहा तैर रहा है, बह रहा है, चल रहा है। ये सब चमत्कार ही तो हैं।

ये सब रत्न प्रकृति के खजाने से अनायास मिल रहे हैं। ये सब अन्न हैं, बल हैं। इन के उचित उपयोग से शरीर को सुख मिलता है, शक्ति प्राप्त होती है। इन से ऊपर, इन से बढ़ कर मानसिक रत्न हैं—ज्ञान, ध्यान, समाधान, श्रवण, मनन, निदिध्यासन। जिस के हस्तगत ये रत्न हो जायें, उसे

अन्य प्राकृतिक रत्नों की इच्छा ही नहीं रहती। कला का आनन्द इन सब आनन्दों से ऊंचा है। गायक, चित्रकार, कवि—ये तीनों अपनी कृति में मस्त रहते हैं। इन का रस उत्पादक है। वेद उत्पादक रस ही को सोम कहता है।

सच तो यह है कि जब ज्ञान कला में परिवर्तित होता है, वह उत्पादक बन जाता है। वहीं ज्ञान की पराकाष्ठा होती है।

अन्न की सफलता शरीर का अंग बनने में है। जब वह वीर्य बनता है, वह उत्पादक होने के निकट आ जाता है। वीर्य ही शरीर का बल है। और जो भी कार्य शरीर के द्वारा संपादित होते हैं, वे सब इसी वीर्य ही की शक्ति से सिद्ध होते हैं। ज्ञान का उपार्जन भी तो इसी वीर्य के संग्रह से ही होता है।

अन्न-लाभ, धन-लाभ, यशो-लाभ, ज्ञान-लाभ—ये सब अपूर्ण लाभ हैं जब तक इन सब लाभों में रस भरने वाला सोम-रस उपलब्ध न हो जाय। सोम-रस है प्रभु की पूजा अर्थात् प्रभु के पुत्रों की सेवा का रस। यही कला सब कलाओं से ऊंची कला है। भूखे को रोटी खिला कर स्वयं अपनी भूख की तृप्ति का अनुभव करना, अनपढ़ को ज्ञान-दान दे कर अपने ज्ञान को सरस, सफल बनाना, भटक गये को रास्ता दिखा कर अपने जीवन का मार्ग सुगम करना—यही अन्न, ज्ञान तथा बल के रसों में सोम-रस का पुट देना है—सोम-रस की पवित्रता में अन्य सब रसों को डुबो देना है।

सोम-रस समुद्र-रस है। दानी, ज्ञानी, ध्यानी इसी रस में अपने रस का परिपाक समझते हैं। देवताओं का रस यही है।

ज्ञानी का अपना धर्म है, ध्यानी का अपना। परन्तु वह समुद्र-धर्म जिस में जा कर ये सब धर्म नदी नालों की तरह मिल जाते हैं—उत्पादन-धर्म है, परोपकार-धर्म। उसी को सोम कहते हैं।

मेरे अन्न! मेरे बल! मेरे ज्ञान! तू सोम हो जा—अन्न का दाता, बल का दाता, ज्ञान का दाता। दाताओं में श्रेष्ठ। देने में लेने का मज़ा ले। यही देने की कला है। देने का रस है, निष्काम कर्म का रहस्य है।

पवमान घोड़े

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया।
३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २ १२ ३ २ ३ १ २२
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभिप्रयांसि च ॥१२॥

ऋषिः—वशिष्ठः = अत्यन्त कमनीय।

तुम (पवमानाः) पवित्र करने वाले (मरुत्वन्तः) प्राण-शक्ति से युक्त (मत्सराः) हर्ष के सरोवरों (इन्द्रियाः हयाः) इन्द्रिय-रूपी घोड़ों ने (अति धारया) भावना की बढ़ रही बाढ़ से (मेधां प्रयांसि च) ज्ञान, अन्न तथा बल को (अभि) सब ओर से (पवित्रम्) पवित्र रूप से (असृक्षत) पैदा किया है।

मेरे शरीर-रूपी रथ के घोड़ो ! जब से तुम ने निष्काम कर्म की दीक्षा ले सोम-रस में स्नान किया है, तब से तुम मस्ती के, पवित्रता के सरोवर हो गये हो। तुम्हारी नासिकाओं में स्वास्थ्य का, सुशक्ति का श्वास चल रहा है। तुम चिन्ताओं से मुक्त हो, धीर हो, वीर हो। निरन्तर गति के कारण चल रहे तालाब हो—स्रोत हो। तुम में पर-हित की बाढ़ रहती है। अपरिमित क्रिया, अपरिमित श्रम, अपरिमित पर-हित—इन अपरिमित व्यापारों से तुम्हारी साधना का पारावार नहीं रहा। तुम धुल गये हो, मँज गये हो। सारा भोग्य और ज्ञेय संसार तुम्हारा विषय बन कर निर्मल हो रहा है। तुम चलनी हो, संसार सोम। सभी ज्ञेय विषय मेरी सोमाभिषिक्त ज्ञान-इन्द्रियों की चलनी में छन-छन कर पवित्र हो रहे हैं। अन्न का जो भी ग्रास यज्ञ की इस पुण्य वेदि पर पड़ता है, हवि हो जाता है।

यज्ञ के घोड़ो ! तुम्हें शाबाश है। तुम स्वयं यज्ञ की हवि होने वाले हो। अतः तुम्हारे पेट में डाला गया अन्न हवि है। तुम मेध्य पशु हो। इस लिए तुम से मेधा पैदा होती है। यज्ञिय मेधा। मेध्य पवित्र मेधा। तुम सदा प्रयाणशील हो। इस लिए तुम्हारा खाया-पिया अन्न और उस से पैदा हुआ बल "प्रयस्" है—गति-शील अन्न है, गति-शील बल है। नित्य चलता, नित्य बहता यज्ञिय अन्न, यज्ञिय बल।

ओ३म्

षष्ठ खण्ड

त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कुशस्थली

प्र तु द्रव परि कोशं निषीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष ।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोच्छा बर्हीरशनाभिर्नयन्ति ॥१॥

ऋषिः—उशना = कमनीय ।

(प्र तु द्रव) आगे तो दौड़ ही—बढ़ ही । परन्तु ऐसा (परि कोशं निषीद) कि जैसे कोष के चारों ओर बैठा है । (पुनानः) पवित्रता लाता हुआ (नृभिः) नेताओं के साथ (वाजम् अभि-अर्ष) अन्न, बल, तथा ज्ञान की ओर प्रगति कर । (वाजिनं त्वा) अन्न, बल तथा ज्ञान से सम्पन्न तुझ को (मर्जयन्तः) मांज-मांज कर (रशनाभिः) धर्म के पाशों से (बर्हिः अच्छ) यज्ञस्थली की ओर (नयन्ति) ले जाते हैं (अश्वं न) जैसे घोड़े को [रशनाभिः] रस्सियों से बांध कर [बर्हि अच्छ] घास की ओर ।

ऐ मनुष्य ! जीवन नाम ही प्रगति का है । संसार का अणु-अणु हिल रहा है । इसी में संसार की सत्ता है । तेरा

शरीर भी तो संसार का एक अंश है । इसे भी गति-शील रहना ही है । तू स्वयं इसे सन्मार्ग पर चलाय चल । अन्यथा यह उलटे रास्ते पर चल देगा । सजीव पिण्ड का धर्म ही है—या आगे बढ़ना या पीछे हटना । संसार सरण-शील है । इस में ठहरने का—निठल्ले बैठे रहने का स्थान ही नहीं है । तो अच्छा है, तू आगे ही बढ़ । शरीर को, मन को, आत्मा को उन्नत ही करता जा ।

परन्तु उन्नति का साधन है—ध्यान । ध्यान बैठ कर होता है । चित्त की चञ्चलता ध्यान में बाधक है । दौड़ते हुए का चित्त एकाग्र कैसे होगा ? दौड़ते-दौड़ते कभी आसन लगा लिया कर । प्रगति के लिए शक्ति का सञ्चय इस नित्य के ध्यान से—आसन से होगा ।

तू दौड़, पूरी शक्ति से दौड़ । ऐसा दौड़ कि तेरा दौड़ना और बैठना एक हो जाय । गति और स्थिति में भेद न रहे । अनन्त गति अन्त को स्थिति हो जाती है ।

आलात-चक्र में यह पता ही नहीं लगता कि आलात कहाँ है । ऐसा प्रतीत होता है कि आग का एक स्थिर चक्कर-सा जल रहा है । ऐसे ही साधक अपनी साधना का चक्र चलाता है । इस चक्र का केन्द्र आध्यात्मिक मधु-कोप है—अलौकिक मिठास का अक्षय ख़ज़ाना । जब वह प्राप्त हो जाता है तो योगी के चित्त की स्थिति अनन्त कर्म करते हुए भी स्थिर रहती है । वह संसार के सभी कार्य करता हुआ एकाग्र-चित्त रहता है । उस की वृत्ति आनन्दमय कोप

में स्थित हो जाती है। वह बैठा-सा दौड़ता है। दौड़ने से उसे थकान नहीं होती, मन की वृत्ति में विक्षेप पैदा नहीं होता।

मेरे मन! तू ऐसा ही दौड़! तेरी दौड़ पवित्रता का प्रवाह है। इस में तू अकेला नहीं, असंख्य नेता तेरे साथ हैं। संसार में सुधारणा की बाढ़-सी आ रही है। तू इस बाढ़ की एक लहर बन जा। सभी लहरें मिल कर एक साथ धावा करें तो संसार-भर की मलिनता एक क्षण में नष्ट हो जाय। शुद्ध अन्न, शुद्ध बल, शुद्ध ज्ञान की सर्वत्र प्राप्ति हो।

यह कार्य एक के करने का नहीं। मानव समाज का अन्न, ज्ञान, बल पवित्र हो जाय, इस के लिए समूचे समाज के प्रयत्न की आवश्यकता है। मज़ा तो यह है कि स्वयं व्यक्ति का सुधार समष्टि के सुधार की अपेक्षा रखता है।

शुद्ध अन्न, शुद्ध बल, शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही मनुष्य यज्ञ करने का अधिकारी हो सकता है। व्यक्ति को समष्टि में विलीन कर देना यज्ञ है। इस की आहुति पवित्र हो—इसी के लिए आत्मा को मांजते हैं। प्रत्येक यजमान दूसरे सभी यजमानों से गुप्त रस्सियों—गुप्त बन्धनों द्वारा बँध रहा है। समाज के, देश के, जाति के, नीति के, आचार के—सभी नियम मनुष्य को समाज के साथ बाँध रहे हैं। इन नियमों के साथ बँधा मनुष्य अनजाने में यज्ञ कर रहा है। संसार के रथ का घोड़ा—सधा हुआ, मँजा हुआ, जुता हुआ घोड़ा—बन रहा है। प्रभु के रथ का घोड़ा।

संसार कुशस्थली है—यज्ञस्थली ह। राजा की कुशस्थली की हरी-भरी कोमल घास का आनन्द सधे हुए, मँजे हुए, रथ में जुते हुए घोड़े ही ले सकते हैं। प्रभु की यज्ञस्थली के देवता, यज्ञ की वेदि को केन्द्र बना आलात-चक्र की तरह निरन्तर घूमने वाले एकाग्र-चित्त योगी ही बन सकते हैं। वे योगी जो मानव-जाति के अन्न, बल तथा ज्ञान के संशोधन के प्रवाह की एक लहर बन गये हैं।

दीप की कथा

प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुःपावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥२॥

ऋषिः—वृषगणः = धर्म-कर्म-गण ।

(देवः) दिव्य पुरुष (उशना इव) मानो मूर्त कान्ति हो कर (काव्यं प्रबुवाणः) काव्यमय उपदेश करता हुआ (देवानां जनिमा) दिव्य जनों के प्रादुर्भाव की (विवक्ति) कथा कहता है। (महिव्रतः) महान् व्रत धारण किये हुए (शुचिबन्धुः) पवित्रता का मित्र (पावकः) पवित्रता लाने वाला (वराहः) धर्म-मेघ (रेभन्) गाता हुआ (पदा) शब्दों को (अभ्येति) व्याप लेता है।

उपासक उपासना करता-करता उपास्य के गुणों को अपने में धारण कर लेता है। कामना की सफलता इसी में

है कि वह स्वयं कान्ति बन जाय। इसी अवस्था को पहुँच कर साधक सिद्ध बन जाता है। तव उस का उपदेश शब्दों में नहीं, सम्पूर्ण जीवन द्वारा अभिव्यक्त होता है। उस का सम्पूर्ण जीवन एक काव्य-सा बन जाता है। उस की प्रत्येक चेष्टा में कविता रहती है। जो बात ऐसे सिद्ध के मुख से निकली, अमर हो गई। ऐसे जन की प्रत्येक क्रिया एक मूर्त पद्य होती है। देखने तथा सुनने वाले ऐसा अनुभव करते हैं कि हम मानो एक मूर्त काव्य के पास रह रहे हैं। मनुष्य दिव्य कैसे बनता है? साधारण संसारी पुरुषों में दिव्यता का प्रादुर्भाव कैसे हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर उस कान्तिमय पुरुष की कमनीय कान्ति ही देती है। उस के शरीर के अंग साधारण जनों के सदृश ही हिलते हैं। वह बोलता है तो उसी जीभ से, हँसता है तो उन्हीं ओठों से। परन्तु उस के बोलने और हँसने में एक दिव्य छटा रहती है। सन्तों की इस अलौकिक सिद्धि का ज्ञान किसी ऐसे सन्त के दर्शन से ही होता है। तर्क द्वारा इस विभूति का अनुमान नहीं किया जा सकता। यह दिव्य छटा सन्तों के संसर्ग से सामान्य जनों के चरित्र में भी अनायास छिटक जाती है। धर्म के इतिहास का यह अलौकिक रहस्य है जिसे धार्मिक सुधारणायें अनादि काल से दोहराती चली आती हैं।

ऐसी अलौकिक सिद्धि उन महात्माओं को प्राप्त होती है जिन के व्रत—जीवन-भर के साध्य—महान् हैं, उदार

हैं। जिन का परिवार संसार-भर के पवित्र जन हैं, जिन का आलाप धर्म-मेघ का गर्जन है, जिन्हों ने बादल बन कर विश्व के वातावरण को निर्मल कर देने का ठेका लिया है, जिन का संगीतमय जीवन शब्दों की सीमाओं को अपनी लय की अनन्तता में विलीन कर चुका है।

मेरी जान! तू ऐसा गीत गा। ऐसी तान उठा। ऐसी लय छेड़। तेरे संगीतमय मौन की असीमता के आगे परिमित शब्द क्षुद्र प्रतीत हों। तेरी दृष्टि-मात्र में ही संसार को विमलता का स्नान कराने की पुण्य शक्ति हो। तू कान्ति की मूर्त कविता हो जा। तेरी दिव्य ज्योति संसार को ज्योतिर्मय कर दे। एक दीप लाख दीपों को जला जाय और इन दीपों ही की जबान से अपने तथा अपनी सम्पूर्ण श्रेणि के प्रादुर्भाव की उज्ज्वल कथा सुना जाय। सुना जाय।

यज्ञ-पुरुष का नाद

३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ २
तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो
२ ३
वावशानाः ॥३॥

ऋषिः—पराशरः=वृद्ध।

(वह्निः) आग का पुतला (तिस्रः वाचः) तीन वाणियों—अ, उ, म्, को (प्र-ईरयति) जगाता है। इन शब्दों को ही नहीं किन्तु (ऋतस्य धीतिम्) यज्ञ की धारण करने वाली

(ब्रह्मणो मनीषाम्) ब्रह्म-बुद्धि को भी। जैसे (गावः पृच्छमानाः गोपतिं यन्ति) गायें पूछ-पूछ कर गवालों की ओर जाती हैं, ऐसे ही (मतयः वावशानाः सोमं यन्ति) मनोवृत्तियां सकाम हो कर सोम-रस की ओर जाती हैं।

मेरी जान! तू आग बन जा। समस्त संसार आग के सहारे स्थिर है। अग्नि-तत्व ही सृष्टि को चला रहा है। तुझ में जितना आग का तत्व होगा, उतना ही तू इस संसार के यज्ञ में भाग ले सकेगा। यहां तो क्रिया के आरम्भ के लिए, उस के बीच के संचालन के लिए, यहां तक कि उस की समाप्ति के लिए भी ताप चाहिये। बिना ताप के—हरारत के—यहां का एक अणु भी तो हिल नहीं सकता। हिल रहा हो तो हिलने से रुक नहीं सकता।

संगीत की भाषा में प्रत्येक क्रिया के आरम्भ को "अ" का, मध्य को "उ" का, और समाप्ति को "म्" का उच्चारण कहते हैं। संसार का प्रवाह गीत-रूप है। इस में जो कुछ हो रहा है, वह ओम् का—उद्गीथ का सुरीला जाप है।

साधक इस जाप में अपनी आवाज़ मिला देता है। यह आवाज़ मिलाना केवल शाब्दिक नहीं, हार्दिक होता है। वह इस विश्व का यज्ञ-रूप में साक्षात्कार करता है। उस की दृष्टि में, इस की एक-एक गति—छोटी से छोटी हरकत—प्रभु के अपने हाथ की दी हुई आहुति है। इस आग को यज्ञ-पुरुष ने स्वयं प्रज्वलित किया है। विश्व के

मुख से अनन्त-जिह्व हो कर प्रणव का उच्चारण यज्ञ-पुरुष स्वयं कर रहा है। मनुष्य अपने जीवन की तन्त्री में उस नाद को जगाता है। संसार का वास्तविक रूप जिसे ऋत कहते हैं, यज्ञ ही है। ऐसी अनुभूति की अवस्था में मानव मन की प्रेरणा—मनीषा, स्वयं ब्रह्म—यज्ञ-पुरुष—ही करता प्रतीत होता है। यह मनीषा सर्व-साधारण के हृदयों में भी विद्यमान है, परन्तु यजमान इस प्रेरणा को जगा देता है। उस के आनन्दमय प्रभाव को अनुभव करता है। उस का मज़ा लेता है।

यही आनन्दमय प्रेरणा ही सोम है। साधक की मनोवृत्तियां इस सोम के सुरीले स्रोत की ओर ऐसी लपकती हैं जैसे गायें गोपाल की वंशी की ओर। गायें गोपाल को ढूँढ रही हैं। मनुष्य की बुद्धि सोम की तलाश में है—उस "सोम" को जिस ने "ऋत" को सँभाला है। जो ब्रह्म का—यज्ञ-पुरुष का—नाद है।

गवाला

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमान्ति होता ॥४॥

ऋषिः—वशिष्ठः = अत्यन्त कमनीय।

(अस्य हेमना प्रेषा पूयमानः) इस [यज्ञ-पुरुष] की स्वर्णीय प्रेरणा से पवित्रता लाभ कर (देवः देवेभिः रसं

समपृक्त) उस दिव्य मनुष्य ने देवताओं के साथ अपने रस को मिला दिया है। (सुतः रेभन् पवित्रं पर्येति) सोम-रस नाद करता हुआ [हृदय-रूप] चलनी को छा लेता है, (होता पशुमन्ति मिता सद्म इव) जैसे [गायों को] पुकार रहा [गवाला] पशुओं से भरे अपने मापे हुए बाड़ों को।

गायें बाड़े में बन्द हैं। वहां उन के खाने का, पीने का, सोने का, ठहरने का—सब प्रकार का सामान किया गया है। गवाले को सब की प्रकृति का, स्वभाव का, आवश्यकताओं का पूर्ण ज्ञान है। उस ने बाड़े का इंच-इंच माप रखा है। बाड़े का सामान और गायों की आवश्यकता—दोनों का मिलान गवाले की वात्सल्यमय दृष्टि कर रही है। उस के हृदय में गायों का प्रेम, उन का हित-चिन्तन, उमड़ रहा है। गायें उस की सन्तान हैं और वह उन का पिता। या उस ने उन का स्तन पान किया है और इस नाते वह उन्हें अपनी माताएँ समझता है। वह उन का सुत है। उस की वंशी से उस के हृदय की पवित्र भावना प्रेम का एक सतत स्रोत बन कर बह रही है। इस प्रेम ने गायों को मस्त कर रखा है। वे खा रही हैं, पी रही हैं, जाग रही हैं, सो रही हैं—इन सब क्रियाओं पर गवाले का दिव्य गीत व्याप रहा है। गवाले की लयों ने उन के संपूर्ण क्रिया-कलाप को संगीतमय कर दिया है। उन के समूचे जीवन में एक दिव्य भावना-सी भर दी है।

यही अवस्था भक्त के हृदय की है। उस के हृदय की चलनी में सोम टपक रहा है। सोम उस के हृदय का वैसा ही "सुत"—संपादित रस—है, जैसे गवाले का प्रेम गायों के मन का। इस "सुत" की अलौकिक तानें गायों के इस वाड़े को वैसी ही तन्मयता की लयों द्वारा व्याप्त रही हैं। भावुक का हृदय भावना की क्रीड़ास्थली है।

सोम-रस प्रेरक रस है। उस की प्रेरणा अत्यन्त आनन्द-प्रद, अत्यन्त रमणीय है। रमणीयता के साथ उस में पवित्रता की भी पराकाष्ठा है। इस रस में डूबा पुरुष अपने आप को किसी दिव्य लोक में अनुभव करता है। वह स्वयं देव होता है और उस के आनन्द की तुलना देवताओं के ही आनन्द से की जा सकती है।

मनोवृत्तियां गायें हैं और सोम-रस गवाला। यजमान के हृदय की चलनी में यह रस टपकता है। वहीं उस की मनोवृत्तियों का वास है। कैसा अलौकिक मेल है! देवताओं का मेल! उन के रस का मेल! पृथिवी और द्युलोक का मेल!

सोम की पुत्रियाँ

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥५॥

ऋषिः—प्रतर्दनः = प्रकृष्ट हिंसक ।

(सोमः पवते) सोम-रस झर रहा है, (जनिता मतीनाम्) जो बुद्धियों को जन्म देता है, (जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः) जो द्युलोक और पृथिवी को पैदा करता है, (जनिता अग्नेः जनिता सूर्यस्य) जो अग्नि और सूर्य का जन्म-दाता है, (जनिता इन्द्रस्य उत विष्णोः जनिता), जो आत्मा तथा यज्ञ को प्रकाशित करता है ।

मेरी मनोवृत्तियों का असली स्वरूप क्या है ? मुझे आज ज्ञात हुआ है । ये सोम की पुत्रियाँ हैं—उस रस की जो यज्ञ की भावना से पैदा होता है । मेरा मानसिक जीवन यज्ञ का परिणाम है—स्वयं यज्ञ है । आत्मा और शरीर मिले हैं—एकीभूत हुए हैं । एक ने दूसरे के साथ अभेद का सा सम्बन्ध पैदा किया है । तब कहीं मनोवृत्तियों को जन्म मिला है । इच्छा का, संकल्प का, विचार का, कल्पना का, भावना का, प्रीति का, द्वेष का, काम, क्रोध और मोह का यह सारा खेल एक अद्भुत यज्ञ का फल है । अहो ! ये सोम की—यज्ञ की—कन्याएँ कितनी पवित्र हैं ! कितनी निष्पाप ! यज्ञ की सन्तान यज्ञ ही के अर्पण होनी चाहिये । मन की कुछेक वृत्तियों को अब तक हम अपवित्र समझते थे, परन्तु उन का यज्ञिय

रूप अत्यन्त पवित्र है। काम प्रजनन के लिए हो, क्रोध पाप के प्रति, मोह पुण्य के लिए, द्वेष बुराई से—कोई भी तो वृत्ति ऐसी नहीं जो अपने पवित्र रूप में यज्ञ के अर्पण न हो सके।

अरे! केवल मेरा मानसिक संसार ही क्या? सम्पूर्ण बाह्य जगत् भी सोम की सन्तान है। पृथिवी और आकाश, सारे का सारा नक्षत्र-जगत् यज्ञ की भावना ही से पैदा हुआ है। प्रभु ने अपने प्रेम-रस से सम्पूर्ण विश्व को सींच दिया है।

सूर्य जो इस सारे संस्थान का केन्द्र है, स्रोत है, वह भी सोम का—यज्ञ के अतुलनीय आनन्द का फल है। सूर्य का तत्व अग्नि तो यज्ञ का सार ही है। समस्त रासायनिक मेल अग्नि की शक्ति से ही होते हैं, और अग्नि संसर्ग से, संघर्ष से पैदा होती है।

मैं इन्द्र हूँ, परन्तु यज्ञ करूँ तब। इन्द्रियों से संसर्ग न हो तो मैं निस्संग भले ही रह जाऊँ परन्तु मुझे इन्द्रिय-पति कौन कहेगा? मैं इन्द्र इसी से हूँ कि शरीर-रूप यज्ञ का यजमान हूँ।

और तो और, स्वयं यज्ञ भी यज्ञ की भावना की सन्तति है। सोम के विना यज्ञ नहीं होता। रूखा सूखा क्रिया-कलाप तो कुछेक यान्त्रिक चेष्टाओं से भी हो जायगा। आग जला ली, उस में घृत छोड़ दिया, सामग्री की कुछ मात्रा डाल दी। वह यज्ञ नहीं। यज्ञ तव होगा जब उस में

यज्ञ की—परोपकार की, देव-पूजा, संगति-करण तथा दान की—भावना निवास करेगी। वह यज्ञ में रस लायगी। रस ही यज्ञ की जान है।

आज मेरे हृदय में सोम का क्षरण क्या हुआ? मैं ने सृष्टि के रहस्य को पा लिया। सोम-रस टपक रहा है, वरस रहा है, उमड़ रहा है। मेरे हृदय में मेरी एक-एक मनोवृत्ति के साथ-साथ सोम-रस की निष्पत्ति हो रही है। मेरे हृदय के वाहर पृथिवी पर, आकाश में, सूर्य तथा अग्नि में सर्वत्र सोम ही सोम क्षरित हो रहा है।

हरी-भरी झोली

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्विरत्नधा दयते वार्याणि ॥६॥

ऋषिः—वसिष्ठः = ख़ूब वसा हुआ।

(त्रिपृष्ठम्) तीन-तीन बार छुए जाने वाले (वृषणम्) आनन्द बरसा रहे (वयोधाम्) जीवन के आधार (अंगोषिणम्) अंग-अंग में बस रहे सोम को (वाणीः) मेरी वाणियों ने (अवावशन्त) कामना-पूर्वक पुकारा। (वरुणः) वरा गया प्रियतम (वना वसानः) तरंगों की ओढ़नी ओढ़े (रत्नधा सिन्धुः न) रत्न उपजाने वाले समुद्र की तरह (वार्याणि वि-दयते) सभी वरणीय वस्तुएँ प्रदान करता है।

प्यारे! मैं तुम्हें वाणी से बुला रहा हूँ। तुम कहां हो?

क्या मुझ से दूर हो ? किसी और पदार्थ को एक बार छुआ जाय, मैं तुम्हें तीन-तीन बार छूता हूँ । जब मैं अपनी भक्ति के आवेश में आता हूं, मैं एक बार नहीं, तुम्हें तीन-तीन बार छू लेता हूँ। मेरा मन, मेरी वाणी, मेरा शरीर—ये तीनों तुम्हारे दिव्य संस्पर्श को अनुभव करते हैं । मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है, तुम मेरे अंग-अंग में बस रहे हो। तुम मेरे जीवन के जीवन—प्राणों के प्राण हो । मेरे मन में, मेरी वाणी में, मेरे शरीर में तुम निरन्तर आनन्द की वर्षा कर रहे हो ।

जब मेरी विचार-रूप वाणी, वाग्-रूप वाणी, क्रिया-रूप वाणी—ये तीनों वाणियाँ एक साथ तुम्हारा आवाहन करती हैं, तो तुम भावना के आवेश में आ जाते हो । तरंगों की ओढ़नी ओढ़े मेरी ओर उमड़ते हो । मेरे मन को छूते हो, मेरी वाणी को छूते हो, और प्रियतम ! तुम मेरे शरीर को भी छू जाते हो । मुझे रोमांच हो आता है, तुम मेरे अंग-अंग में समा जाते हो । जिसे मेरी आत्मा ने वरा था, वह "वरुण"—वर, आत्मा के सम्मुख होता है, उस के अन्दर से बोलता है । मेरी आत्मा निहाल हो जाती है । उसे जो "वार्य" है—वरणीय है, अनायास प्राप्त हो जाता है । संसार में जो रत्न हैं—रमणीय वस्तुएँ हैं, उस आनन्द-सागर की ठाठों के साथ-साथ उछल-उछल कर स्वयं मेरे पलड़े में आ पड़ती हैं ।

मेरे सौभाग्य के क्या कहने ? सोम ! जिस की झोली में तुम हो, उस की झोली में सब कुछ है । और अगर तुम न हो तो झोली हरी-भरी भी ख़ाली है ।

प्रेम-पारावार

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ ३ ३ १र २र २ २
अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य गोपाः ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे
३ १र २र
स्वानो अद्रिः ॥७॥

ऋषिः—पराशरः = वृद्ध ।

(प्रथमे विधर्मन्) आदि सृष्टि के समय (भुवनस्य गोपाः) भूत-जात का रक्षक परमेश्वर (प्रजाः जनयन्) प्रजाओं को उत्पन्न करते हुए (समुद्रः अक्रान्) समुद्र बन कर उमड़ा था। (पवित्रे अधि सानो अव्ये) चेतना की पवित्र चोटी पर (बृहत् सोमः अद्रिः) वह महान् रस-रूप करुणा-मेघ (वृषा स्वानः) बरस-बरस कर, गा-गा कर (वावृधे) विस्तार को प्राप्त हुआ ।

यह सृष्टि प्रभु के प्यार की है। प्रभु को अकेले चैन नहीं पड़ती थी। वह करुणा का स्रोत करुणा किसे दिखाता ? वह प्रेम का पुतला प्रेम किस से करता ? उस के स्वभाव में सृष्टि करना था। उस का यह स्वभाव सफल कैसे होता ?

सच तो यह है कि सृष्टि सभी प्रेम ही की उपज होती है। द्वेष से, क्रोध से, ईर्ष्या से विनाश ही होता है। निर्माण प्रीति से, स्नेह से, चाव से ही हो सकता है ।

प्रभु का स्नेह समुद्र बन कर उमड़ा, मेघ बन कर बरसा, नाद बन कर गर्जा। मेघ से आर्द्रता ले कर अणु-अणु एक दूसरे से चिपक गया, समुद्र से गति ले कर कण-कण में स्फूर्ति आई। नाद ने संगीत का रूप धारण किया और उस का ताल तत्वों का पारस्परिक अनुपात हो गया।

आज संसार में नृत्य है, गान है। ताल है, लय है। यह प्रभु के उसी संगीतमय प्रेम का फल है।

चेतना की चोटी है भावना—emotion। वह रोमांच में प्रकट होती है। विश्व रोमांचित है। उस में भावना उमड़ रही है। कहीं समुद्र की ठाठें हैं, कहीं मेघों का गर्जन है, कहीं वायु के झकोरे हैं। प्रकृति प्रभु के आलिंगन से मस्त हो-हो कर नाच रही है।

इसी के परिणाम-स्वरूप, मनुष्य भी जब निर्माण करता है तो प्यार के द्वारा। कलाएँ सब भावना की उपज हैं। संगीत, चित्र, कविता, स्थपत्य—सब प्यार ही के कारण हो पाते हैं। मनुष्य भावना से अभिभूत होता है—उस का अंग-अंग रोमांचित हो उठता है, तभी उस से कोई अमर कृति हो पाती है। कलाकार ब्राह्मण थे, पाई-पाई का हिसाब रखने वाले बनिये नहीं। उन्हों ने आत्मोत्सर्ग किया था जैसे प्रभु ने। सृष्टि प्रभु की हो या मनुष्य की, सब आत्मोत्सर्ग ही से होती है। मतवाले प्यार से, झूम-झूम कर बेसुध हो जाने वाले दुलार से।

हरि को "हरि" बनने दो

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ २
कनिक्रन्ति हरिरासृज्यमानः सीदन्वनस्य जठरे पुनानः ।
१ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः॥८॥

ऋषिः—प्रस्कण्वः = प्रकृष्ट मेधावी ।

(हरिः) हरि (आसृज्यमानः) साधना का विषय हो कर, हरि बनाया जा कर (कनिक्रन्ति) बोलता है । (वनस्य जठरे सीदन् पुनानः) तरंगों के पेट में बैठा पवित्रता ला रहा है । (नृभिः यतः गां निर्णिजं कृणुते) मनुष्यों के संयम [धारणा, ध्यान, समाधि] का विषय बन कर बुद्धि का परिष्कार करता है । (अतः स्वधाभिः) इन साधनों से [हे मनुष्यो !] (मतिं जनयत) अपनी मनोवृत्तियों को बनाओ ।

हमारा सारा जीवन हरि के अधीन है । वह हमारे हृदय को, मन को, चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों को अपनी ओर खींचता है । उन्हें सन्मार्ग में लगाता है । हम उस से विमुख होकर स्वयं कुमार्ग की ओर प्रवृत्त होते हैं । यदि हम पाप की ओर प्रवृत होना छोड़ दें तो पुण्य की प्रवृत्ति स्वयं पैदा हो जायगी । हम एक बार हरि को "हरि" बनने दें । उस के रास्ते में बाधा उपस्थित न करें । वह अपने आप हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेगा ।

जो हरि को अपने लिए वास्तविक "हरि" बना लेता है, वह उस चित-चोर की मनोहर ध्वनि को सुनता है। उस के हृदय में हरि के प्यार की तरंगें उठने लगती हैं। वह हरि के प्रेम की भावना से आविष्ट हो जाता है। उस के सम्पूर्ण जीवन में पवित्रता की एक लहर-सी दौड़ जाती है। उस के लिए दुर्व्यवहार तो क्या, दुर्विचार तक करना असम्भव हो जाता है।

उस की धारणा हरि को अपना विषय बनाने लगती है। निरंतर अनवरत धारणा, ध्यान का रूप धारण करती है और अन्त को साधक की हरि में समाधि लग जाती है। योग की परिभाषा में इन तीन क्रियाओं का संयुक्त नाम संयम है। हरि में किया गया "संयम" बुद्धि का पूर्ण परिष्कार कर देता है। ऐसे सिद्ध-पुरुष की विचार-धारा सदैव हरि के अर्पण रहती है। उस का जीवन-मरण सब हरि के अधीन हो जाता है। हरि के चुम्बक से आविष्ट हो कर वह लोहा भी हो तो स्वयं चुम्बक बन जाता है।

अपनी मनोवृत्तियों को सन्मार्ग पर लगाने का—उन्हें मानव जन्म की सफलता की ओर प्रवृत्त करने का साधन है—हरि की भक्ति। हरि को कोई "हरि" बनने दे सही, आगे की सारी प्रक्रिया अपने आप सिद्ध हो जायगी। उस की मनोमोहक तानें हमारे प्रयत्न के बिना ही हमारी भावनाओं को छा लेंगी और हम अनुभव करेंगे कि हम धुल रहे हैं, मँज रहे हैं। हम अनायास हरि के ध्यान

में डूबे रहने लगेंगे। इसी डुबकी का नाम ही तो समाधि है ।

मेरे मन! तू हरि का हो कर रह। हरि के पवित्र प्रेम से आविष्ट हो। हरि के ध्यान में डूब जा। डूब जा।

अनन्त फाग

३ २उ २ १२ ३ २ ३ २३ २ ३ १२३१२
एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः।
३ १ २३ १ २३ १ २ ३ २ ३उ ३क २र
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा शश्वत्तमं बर्हिरावाज्यस्थात् ॥९॥

ऋषिः—उशना = कमनीय।

(इन्द्र) हे इन्द्र! (ते वृष्णः पवित्रे) तुझ वर्षणशील [के हृदय] की चलनी में (एष स्य मधुमान् सोमः) यह मीठा, मधु बरसाने वाला सोम (परि अक्षाः) चारों ओर से टपक रहा है। तू (वाजी सहस्रदाः शतदाः भूरिदावा) अन्न, बल तथा ज्ञान का स्वामी सैंकड़ों का, हजारों का, इस से भी अधिक का दान कर (शश्वत्तमं बर्हिः) अनन्त यज्ञ की सदा-बहार हरियाली में (आ-अस्थात्) स्थित हो गया है। जा टिका है।

सोम-रस की होली सारे विश्व में खेली जा रही है। हवा, बादल, पहाड़, नदी, नाले सब पिचकारियां भरे खड़े हैं। वृक्ष तो वृक्ष, पौधे और पत्ते तक खूब फाग खेल रहे हैं। सब ओर आनन्द ही आनन्द है।

यदि मनुष्य के हृदय में इस आनन्द की कोई बूँद नहीं टपकती तो दोष फाग खेलने वालों का नहीं, इस का अपना है। यह चाहे कि इस पर भी आनन्द की वर्षा हो तो यह स्वयं पिचकारी ले कर फाग खेलने लग जाय। संसार-भर के खिलाड़ी इस पर रंग उँडेल देंगे। खेल खिलाड़ियों के साथ ही खेला जा सकता है। मेरे मन ! तू स्वयं खेलने लग जा। तभी यह लंबी-लंबी पिचकारियों वाले अपनी पिचकारियों का मुँह तेरी ओर खोल देंगे। तू इन में से एक हो जा। इन का संगी-साथी बन जा।

संसार का खेल संपत्ति वाले ही खेल सकते हैं। तेरे पास अन्न है तो अन्न दे। बल है तो बल दे। ज्ञान है तो ज्ञान दे। दे, विना माप तोल के दे। खुले हाथों से—मुक्त-हस्त होकर दान कर। छाजों भर-भर दे। सैंकड़ों की, हज़ारों की संख्या में—नहीं इन संख्याओं की सीमा को पार कर अपरिमित दान दे। ज्यों ही तू ने दान की होली खेली, तेरा सूखा हृदय-कमल झट खिल उठेगा। तू एक नन्दन-वन में होगा जहां का वसन्त अनन्त है। ऐसी हरियाली में जो कभी कुम्हला नहीं सकती।

दानी, दान लेने वाले का तो भला करता ही है, उस से अधिक वह अपना कल्याण कर रहा होता है। भूखे की भूख मिटा कर अपने आप को तृप्त कर। यह तृप्ति शाश्वत तृप्ति है।

वास्तविक यज्ञ पर माप-तोल की सीमा नहीं—काल की,

देश की सीमा नहीं। यज्ञ अपरिमित वस्तु है। इस का आनन्द अपरिमित है। यज्ञ-भाव से दी हुई एक कौड़ी का वही महत्व है जो अरबों रुपयों के दान का। यज्ञ में दान की मात्रा को नहीं, भावना को देखते हैं। सच्चा यजमान दो पैसों के साथ भी उतना ही सम्पत्ति-शाली है जितना लाखों, करोड़ों के साथ। दिल दरिया चाहिये। मेरे दिल! तू दरिया बन। भावना की बाढ़ ला। दान का फाग खेल।

चिकने कटोरे

१२ ३१२ ३ २३ १र २र३ २३ २३ १२
पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावाऽपो वसानो अधि सानो अव्ये।
३ १ २ ३ १ २ ३१ ३ ३१२३१२
अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः॥१०॥

ऋषिः—प्रतर्दनः=प्रकृष्ट हिंसक।

(सोम) ऐ मेरी सूखी आत्मा के संजीवन-रस! (मधुमान् ऋतावा) तू मीठा है, यज्ञमय है। (अपो वसानः) तरंगों की ओढ़नी ओढ़े (अधि सानो अव्ये) चेतना की चोटी पर से (पवस्व) बह। (मदिन्तमः मत्सरः) मस्ती का अत्यन्त नशीला स्रोत बन कर (इन्द्रपानः) इन्द्र के पान के लिए (घृतवन्ति द्रोणानि) घी से भरे [इन्द्रिय-रूपी] काठ के कलशों में (अवरोह) उतर।

यज्ञ की भावना का मिठास न मिश्री में है, न शहद में। यह नशीली लहर भावना की उड़ानों ही में मिलती है—

हृदय की उन ऊंची चोटियों पर जो भावुकता की बाढ़ में तैरती हुई आकाश से ऊपर उठ जाती हैं। चेतना की पराकाष्ठा वहीं जा कर होती है ।

इस नशीली लहर का पान इन्द्र करता है जो देवताओं का राजा है। बादलों से ऊपर रहने वाला इन्द्र इस नशे का स्वाद वहीं ले लेगा। मेरी देव-पुरी इसी पृथिवी पर है। मेरा इन्द्र इस देह-रूपी अयोध्या में रहता है। इस के देवता मेरी इन्द्रियों के कलश लिये सोम-रस की बाट देख रहे हैं। कलश काठ के हैं—सूखे काठ के, परन्तु इन्हें चिकना किया गया है। इन में घृत भरा गया है। ये स्निग्ध हैं—श्रद्धा के रस से परिपूर्ण। सूखा पात्र रस को पी जाता है। चिकने पात्र में रस की एक बूँद का भी नाश नहीं होता। मेरे देवताओं के पात्र चिकने हैं । मेरी आँखें, मेरे कान, मेरी जीभ, मेरा प्राण-प्राण स्नेह-भरी दृष्टि से सोम की बाट देख रहा है। सोम-रस ! बरसो। इन प्रतीक्षा कर रहे पात्रों को एक बार तो अपनी नशीली, रसीली, ऋतवती, मधुमती लहरों से भर दो। मोहन ! आओ। तरंगों की ओढ़नी ओढ़े आओ। मेरे काठ के कटोरों में आओ। मेरे स्नेह के कसोरों में आओ। मेरी प्यासी आत्मा के ओठों से अपने प्रेम की प्याली चिपका दो, चिपका दो।

एक बार ! एक घड़ी !! एक क्षण !!!

द्वितीय स्तवक

वीर तरङ्ग

ओ३म्

सप्तम खण्ड

त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

गवाला सेनापति

१ २ ३ २र २ २ ३ १ २
प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना ।
३ २ ३ १ २ ३ १ र २र
भद्रान् कृण्वन्निन्द्र हवान्त्सखिभ्य
२उ ३ १ २ ३ १ २
आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥ १ ॥

ऋषिः—प्रतर्दनः = प्रकृष्ट हिंसक ।

(**शूरः सेनानीः**) बहादुर सेनापति (**गव्यन्**) संपूर्ण भूतल [की समृद्धि] तथा संस्कृति [की रक्षा] के लिए (**रथानाम् अग्रे**) रथियों के आगे-आगे (**प्र-एति**) बढ़ा चला जाता है । यह देख कर (**अस्य सेना हर्षते**) इस की सेना हर्ष अनुभव करती है । (**सखिभ्यः**) समान ख्याति वाले [सैनिकों] के लिए (**इन्द्र-हवान्**) आत्मा की पुकारों को (**भद्रान् कृण्वन्**) सफल करता हुआ (**सोमः**) [राष्ट्र-भक्ति का] संजीवन रस (**रभसानि**) [क्षणिक आवेशों के] तेज़-तेज़ (**वस्त्रा**) आवरणों को (**आदत्ते**) हटा लेता है ।

प्रत्येक मनुष्य सैनिक है। देश की, जाति की, धर्म की, अपने घर की आन के लिए हथियार उठाना प्रत्येक आत्मवान् पुरुष का कर्तव्य है।

पृथिवी गौ है। वह अपने पुत्रों के मुख में धन-धान्य उँडेल रही है। यदि मानव जाति शान्ति से—परस्पर प्रेम तथा सहयोग से—निर्वाह करना चाहे तो उस की आवश्यकताओं के लिए इस कामधेनु का दूध बहुत पर्याप्त है। सहयोग का फल जहां पारिवारिक आनन्द होगा, वहां प्रत्येक देश सब प्रकार की सम्पत्ति से समृद्ध भी अधिक होगा। आफ़त है तो यह कि स्वयं मनुष्य एक दूसरे के शत्रु हो रहे हैं। एक जाति दूसरी जाति पर, एक देश दूसरे देश पर अनुचित अधिकार जमाना चाहता है। इसी से कलह पैदा होता है। पृथिवी माता का सुख इस में है कि उस के संपूर्ण पुत्र-पुत्रियाँ शान्ति-पूर्वक जीवन का आनन्द लें। जो इस शान्ति को भंग करता है वह पृथिवी माता का द्रोही है। जिन्हें दास बनाया जाता है, उन का अकल्याण तो होता ही है। परन्तु जो दूसरों को दास बनाते हैं, वे भी कोई अपना आध्यात्मिक हित नहीं कर रहे होते। अत्याचारी डाकू ही तो होता है। कोई व्यक्ति डाकू हुआ तो वह वैयक्तिक रूप में दण्डनीय है। इसी प्रकार कोई जाति की जाति डाकू बन जाय तो वह जाति-रूप में दण्ड देने के लायक़ है। मानव जाति का भला इसी में है कि सभी राष्ट्र स्वतन्त्र तथा समृद्ध हों।

यह हुई आर्थिक गौ। संस्कृति आध्यात्मिक गौ है। परम्परा-गत विचार, भाषा, विद्या, विज्ञान तथा धर्म प्रत्येक देश की मानसिक बपौती हैं। इन्हें नष्ट होने देना अपनी मानसिक तथा आध्यात्मिक हत्या करना है।

राजनैतिक स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मिक उन्नति साथ-साथ चलती हैं। यह कहना कठिन है कि इन में से कौन आधार है और कौन आधेय। आर्य पुरुष का कर्तव्य है कि दोनों की रक्षा में जी-जान से यत्न करे। जो इन्द्र अर्थात् जीता जागता आत्मा है, वह अपने जन्म-सिद्ध अधिकारों को लुप्त न होने देगा। इन की सुरक्षा के लिए उस के हृदय से आवाज़ उठनी स्वाभाविक है।

सात्विक देश-भक्ति दूसरों से द्रोह नहीं सिखाती। उस के लिए मातृ-भूमि पृथिवी माता ही की पुत्री है। माता का सौभाग्य इसी में है कि उस की सभी पुत्रियाँ सुखी हों, स्वाधीन हों। ऐसी देश-भक्ति प्रभु-भक्ति की पर्याय है। प्रभु का प्रेम यही है कि उस के पुत्रों से प्रेम किया जाय। इस देश-भक्ति का नशा "सोम" है। मानव-मात्र के लिए अमृत है। सच्चा संजीवन-रस है। आर्य वीर जब इस नशे में आकर विरोधियों के साथ जूझ जाता है तो वह केवल अपने ही देश की नहीं, किन्तु सभी देशों की संस्कृति, भाषा, धर्म, विज्ञान, कला, रीति-रिवाज, स्त्रियों तथा वृद्धों की मान-मर्यादा आदि की रक्षा करता है। उस ने आत्मा की आवाज़ को "सोम" की—सात्विक देश-भक्ति की—सुरीली लयों में सुना है और

इस धर्म-संग्राम में अपने जीवन की आहुति दे कर वह उस आन्तरिक ध्वनि को सफल कर रहा है ।

इस सात्विक राष्ट्र-भक्ति के सोम-रस का संचार किसी आत्म-दर्शी सेना-नायक के द्वारा ही हो सकता है जिस ने पृथिवी-मात्र को अपनी माता समझा हो, जो देश-विदेश की संस्कृतियों को अपने ऋषियों की पुण्य देन समझता हो। सैनिक सब उस के मित्र होंगे, सखा होंगे। पवित्र सोम-रस के सूत्र में पिरोये हुए समान आभा के—चमक दमक के—मोती होंगे। जहां नायक अपनी जान हथेली पर रख सैनिकों के आगे बढ़ा, वहां संपूर्ण सेना का हृदय उस के क़दम-क़दम के साथ उछलता है। वे नाच-नाच कर रण-क्षेत्र की ओर पग बढ़ाते हैं। उन का आवेश क्षणिक नहीं। वे काम-वश, क्रोध-वश, मोह-वश युद्धस्थली की ओर नहीं दौड़ पड़े हैं। युद्ध-यात्रा का उन का संकल्प सात्विक है, स्थिर है। उन का युद्ध यज्ञ-स्वरूप है। उन का जीवन पृथिवी माता के चरणों में प्रस्तुत है; संस्कृति के—ऋषियों की परम्परा-गत बपौती के—समर्पण है। उन का सेना-नायक गो-माता की रक्षा करने निकला है—गो नाम पृथिवी की और मातृ-भाषा द्वारा उपलक्षित संस्कृति की। इसी से वह मूर्त सोम—देश तथा जाति के लिए अमृत—हो गया है।

१ ३   २ ३   १ २   ३
प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन्

२३   २ ३ २   ३ १र   २र
वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम् ।

१ २ ३   १२ ३   १ २   १ २
पवमान पवसे धाम गोनां

३ २ ३   १ २   ३ २
जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः ॥२॥

ऋषिः—पराशरः = वृद्ध ।

(पवमान) ऐ पवित्रता लाने वाले सोम-रस ! (गोनां धाम पवसे) तू मातृ-भूमि, मातृ-भाषा, मातृ-संस्कृति के धाम—सम्पूर्ण पृथिवी माता—को पवित्र कर रहा है । (सूर्यं जनयन्) तू ने सूर्य को पैदा कर उसे (अर्कैः) किरणों से (अपिन्वः) भर दिया है । (यत् पूतः) तू जो पवित्र हो कर (अव्यं वारम् अत्येषि) भावना-पूर्ण रोमांच ला रहा है, (ते मधुमतीः धाराः) तेरी ये मीठी-मीठी धाराएँ (प्र-असृग्रन्) खूब बढ़-बढ़ कर बह निकली हैं ।

राष्ट्र-प्रेमी जब सम्पूर्ण भूतल पर सुख और शान्ति की स्थापना को अपना लक्ष्य बना लेता है, जब उस का उद्देश्य किसी से द्वेष करना नहीं रहता किन्तु सब की उन्नति ही में उसे अपने देश की भी उन्नति प्रतीत होती है, तो उस की राष्ट्र-भावना में एक विशेष पवित्रता आ जाती है । उस की

देश-भक्ति निर्बल जातियों के खून में लथड़ी हुई नहीं होती। उस का, स्वराज्य या साम्राज्य का सपना शक्ति-हीन राष्ट्रों को दास बनाने के पाप पर आश्रित नहीं होता। उस का राष्ट्र-प्रेम अपने तथा दूसरे राष्ट्रों के लिए "सोम" अर्थात् संजीवन-रस का काम करता है।

पृथिवी गायों का धाम है, एक विस्तृत गोशाला है। चारों ओर फैला हुआ एक हरा-भरा खेत है जिस में मातृ-देश, मातृ-भाषाएँ, मातृ-संस्कृतियाँ आनन्द से अहार-विहार कर रही हैं। मांसाहारी पशु आपस में लड़ते हैं परन्तु गायें शान्ति-पूर्वक एक ही खेत में मिल कर खा-पी लेती हैं। गौ अहिंसा की, प्रेम की, सहकारिता की प्रतिमा है।

वेद की दृष्टि में राष्ट्रों तथा धर्मों को इसी प्रेम-भाव से ही संसार का उद्धार करना चाहिए। सब को जीवित रखने का भाव सोम-भाव है। इस भाव के संचार से ये सब गायें प्रेम की भावना में भीज-भीज कर अत्यन्त मधुर दूध देती हैं। पृथिवी इस दूध की नदी-सी बन जाती है। मनुष्य जाति एक परिवार सा प्रतीत होती है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्यों को अपना सहोदर—मां-जाया—भाई समझता है। प्रेम के आवेश में उसे हमेशा एक रोमांच-सा हुआ रहता है।

युद्ध केवल चोरों, डाकुओं, अत्याचारियों से ही रह जाता है। सैनिक के हृदय में, हथियार उठाते हुए भी तो यही भाव काम करता है कि यह भुजा संसार-भर की देवियों की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए उठ रही है। यह

धनुष दीनों तथा दुर्बलों की सहायता के लिए ताना जा रहा है। यह तलवार ब्राह्मणों की—त्यागी विद्वानों, निस्स्वार्थ प्रचारकों की—प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए सूती जा रही है। यह भाव आते ही एक मधुर वीर-रस का उद्रेक होता है, जो रोम-रोम से छलक निकलता है। वीरता—पवित्र वीरता—का एक प्रवाह-सा बह निकलता है जो देश-विदेश पर छा जाता है।

संसार में एक नया सूर्य-सा निकल आया प्रतीत होता है। सम्पूर्ण भूतल शस्य-श्यामला मातृ-भूमियों, ज्ञान-गर्भा मातृ-भाषाओं, आत्मोद्धारिका मातृ-संस्कृतियों का उज्ज्वल धाम प्रतीत होता है। एक पुनीत आभा-सी इस पृथिवी के ओर-छोर पर छा जाती है जो क्षण-क्षण में अधिकाधिक उज्ज्वल होती चली जाती है। मानो सभ्यता के इस सूर्य में उत्तरोत्तर नई किरणें प्रवेश पा रही हैं।

जातियों के इतिहास में ऐसे युग धन्य हैं। इन युगों में जीने वाले धन्य हैं। उन का प्रभु-प्रेम राष्ट्र-प्रेम के रूप में विकसित होता है। वे अपने जीवन-मरण से केवल अपने ही देश का नहीं, सम्पूर्ण मानव जाति का भला कर जाते हैं।

महान् धन

१ २ ३क २र ३ १र २र
प्रगायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं
३ १र २र
हिनोत महते धनाय ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १
स्वादुः पवतामति वारमव्यमा-
२ ३ १ २ ३ १ २र
सीदतु कलशन्देव इन्दुः ॥ ३ ॥

ऋषिः——इन्द्रप्रमतिः = आत्मा परमात्मा का खूब मनन करने वाला ।

(प्रगायत) गाओ, खूब गाओ । [आओ] (देवान् अभ्यर्चाम) हम देवताओं की पूजा करें । (महते धनाय) महान् धन की प्राप्ति के लिए (सोमं हिनोत) सोम-रस को उद्बुद्ध करो । (स्वादुः) यह मीठा रस (अव्यं वारम् अति) भावना-पूर्ण रोमांच के रूप में (पवताम्) प्रवाहित हो । (देवः इन्दुः) यह दिव्य सुधाकर (कलशम् आ-सीदतु) [हमारे हृदय के] कलश में विराजे ।

भक्ति की भाषा संगीत है । प्रत्येक भाव गीत के रूप में आ कर जहां गाने वाले की नस-नस, नाड़ी-नाड़ी को झंकृत कर बोल उठता है, वहां साधारण जनता में भी उस का प्रचार गायकों की स्वर-लहरियों का सहारा ले कर खूब वेग से हो जाता है ।

देवता तो जैसे सुनते ही संगीत को ; हैं । शान्त-रस द्वारा प्रभु को, वीर-रस द्वारा देश और राष्ट्र को खूब रिझाया जा सकता है ।

हमें उस सोम-रस को उद्बुद्ध करना है जो वीरों की भुजाएँ फड़का दे, ठण्डी छातियाँ गरमा दे, आत्म-त्याग की एक उछलती लहर-सी चला दे। मातृ-भूमि, मातृ-भाषा, मातृ-संस्कृति से प्यार करना सिखला दे।

छोटे-छोटे स्वार्थों की सिद्धि तो सम्भवतः अत्याचार तथा बलात्कार से भी हो सकती है। क्षणिक लाभ किसी जाति को दास बना कर उस की सम्पत्ति लूट लेने से भी हो जाना सम्भव है। चोर चोरी कर के कुछ धन कमा ही लेता है। परन्तु वह धन स्थायी नहीं होता। वास्तविक धन वह है जो स्वयं पैदा किया जाय। किसान खेती से नया अनाज पैदा करता है। उस ने संसार की सम्पत्ति में कुछ वृद्धि की है। ऐसा धन, तथा उसे पैदा करने वाली कला, सोम है। डाकू अत्याचार कर एक जगह पड़े रुपये को दूसरी जगह रख ही तो देता है। कृषक बिना अत्याचार के उस की मात्रा बढ़ाता है। लड़ाकी सन्तान पिता की जायदाद पर छीना-झपटी कर उसे अभियोगों में नष्ट कर देती है। होनहार सन्तति स्वयं नई कमाई कर परिवार को और समृद्ध बनाती है। ऐसे ही मानव-परिवार की समृद्धि उस में प्रेम-प्यार की वृद्धि से ही होगी। प्रत्येक जाति को उस की अपनी दिशा में उन्नति करने का अवसर हो। एक देश दूसरे देश को प्रोत्साहित करे। तभी सब में कला का, विज्ञान का, विद्या का, आर्थिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति का विकास हो सकता है। "महान् धन" का

बीज तो "सोम" अर्थात् सात्विक वीर-रस ही है। वह मीठा रस जिस में द्वेष की, ईर्ष्या की, द्रोह की कड़वाहट का लेश भी न हो।

वीरों के हृदय में एक पवित्र गुनगुनाहट-सी होती रहती है। प्रत्येक समय परपीड़ा-हरण तथा परस्वत्व-रक्षण की पुण्य भावना उन के हृदय-कलश में एक गुंजार-सी पैदा किये रहती है। जैसे चाँद की शीतल किरणों से संसार की खेतियाँ एक उत्पादक रस प्राप्त करती हैं, ऐसे ही क्षत्रियों की वीरता से, मरी हुई जातियाँ नया जीवन लाभ करती हैं। कुम्हलाई हुई संस्कृतियाँ फिर से लहलहा उठती हैं।

क्षत्रिय अपने देश, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति का परवाना है। उस पर जान दे देगा पर उस की आन पर वट्टा न लगने देगा। इतना ही नहीं, वह संस्कृति-मात्र का परवाना है।

अन्न का छकड़ा

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३
प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो
२ ३ १र २र ३ १ २
रथो न वाजꣳसनिषन्नयासीत्।
३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३
इन्द्रं गच्छन्नायुधा सꣳशिशानो
२ ३ २ ३ १ २ ३ १
विश्वा वसु हस्तयोरादधानः॥ ४॥

ऋषिः—वशिष्ठः = अत्यन्त कमनीय।

(रोदस्योः) पृथिवी तथा द्युलोक को (जनिता) [नया]

जन्म देने वाला [वीर-रस का प्रवाह] (हिन्वानः) [जनता को] प्रेरित करता हुआ [इस प्रकार] (प्र-अयासीत्) आगे बढ़ा है (रथो न) जैसे एक रथ (वाजं सनिषन्) अन्न बांटने की आशा दिलाता हुआ । यह प्रवाह (आयुधा) हथियार (संशिशानः) तेज़ करते-करते (इन्द्रं गच्छन्) इन्द्र की ओर जा रहा है । (विश्वा) सब प्रकार की (वसु) जीवन-सामग्री (हस्तयोः आदधानः) हाथों में लिये हुए ।

वीर-रस के संचार ने विश्व को युद्ध-स्थली बना दिया है । आलसी मनुष्य के लिए पृथिवी भोग का स्थान है, परन्तु सैनिक इसे संग्राम का क्षेत्र समझता है । परमेश्वर ने इसे बनाया ही इसी लिए है कि इस में वीरों को वीरता के प्रदर्शन का अवसर मिले । पृथिवी तथा आकाश दोनों में निरन्तर युद्ध चल रहा है । परमाणुओं में संघर्ष है । हवा के झोंके एक दूसरे को धकेल रहे हैं । मेघ सिंह-नाद कर रहे हैं । लहरें भिड़ रही हैं । संसार एक गर्म रणस्थली है । वसुन्धरा वीर-भोग्या ही तो है ।

सच्चा वीर जहां कहीं जाता है, एक नई स्फूर्ति लाता है । अन्न की भरी हुई गाड़ी जहां जायगी, लोगों की आशाओं को उकसायगी, बढ़ायगी । ऐसे ही वास्तविक क्षत्रिय दीनों की, दरिद्रों की, निर्बलों की हिम्मत बँधायगा । उन में नया जीवन लायगा ।

वीर ने युद्ध के लिए अपने हथियार तैयार किये और

उस का अन्तरात्मा उछला। उसे ग्लानि नहीं, आह्लाद है। उस के हथियारों को क्रूरता नहीं, दया, विशुद्ध अहिंसा सान पर चढ़ा रही है। वह संयमी है, इन्द्र है। उस का उद्देश्य सदाचार का प्रचार करना है। वह हिंसा-मात्र की हिंसा करने निकला है। उसे अबलाओं को बचाना है। असहायों की रक्षा करनी है। इस लिए उस के तेज़ हथियार करुणा ही की उज्ज्वल मूर्ति हैं। उस की तोप इन्द्र की—इन्द्रियों के स्वामी की—तोप है। उस से भोग का नाश होगा। आत्म-वशीकार की रक्षा होगी। संयम का बोल बाला होगा।

वीर की सभी जीवन-सामग्री उस के हाथ में है। घोड़े की बाग हाथ में, चनों का थैला हाथ में, लड़ाई का भाला हाथ में। मराठा सैनिकों की तरह एक आसन-सा घोड़े पर डाला और वह जा, वह जा, झट दुश्मन पर जा पड़े। सो जाना चाहा तो आसन ज़मीन पर बिछा लिया। भाला गाड़ दिया और उस के साथ घोड़ा बाँध दिया। इस प्रकार राम-भरोसे जीने वाले मलंग ही संयम की, सदाचार की लड़ाई लड़ सकते हैं। भोगों के भार से लदे, चिन्ताओं के बोझ से झुक गये "जर्जरित जवान" अपनी रक्षा ही कठिनता से कर सकते हैं, देश तथा जाति का तो कहना ही क्या है ?

सच तो यह है कि भोग का आनन्द संयम के साथ है। संयम के बिना भोग रोग हो जाता है। वीर-रस का संचार नस-नस में हो रहा हो, तभी जीने का मज़ा है।

संसार के सभी वैभव जैसे वीर-रस के अधीन हो गये हैं—वीर की हथेली पर नाच रहे हैं ।

वास्तव में जीवन का सार वीरता है । वीरता है तो शरीर है, धन है, घर-बार है, मान है, प्रतिष्ठा है । वीरता नहीं तो जीवन मरण है । भीरुओं का धन स्वयं चोरों को बुलाता रहता है । अनादर को, अप्रतिष्ठा को, पुकार-पुकार कर "जी आय" "जी आय" कहता रहता है ।

मन की बोली

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग्
२र ३ १ २ ३ १र २र
ज्येष्ठस्य धर्म द्युक्षोरनीके ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २र
आदीमायन् वरमावावशाना
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम् ।।५।।

ऋषिः—मृडीकः = सुखी, सुख देने वाला ।

(यदि) जब (ज्येष्ठस्य) महान् (द्युक्षोः) तेजस्वी (वेनतः) कान्तिवान् (मनसः वाक्) मन की [उठाई हुई] वाणी (अनीके धर्म तक्षत्) सेना के बीच में [सैनिकों का] धर्म निश्चित करती है, तो (गावः) मातृ-भूमि, मातृ-भाषा तथा मातृ-संस्कृति (कलशे ईम्) [सैनिकों के] हृदय-कलश में विद्यमान (इन्दुम्) सोम-रस

को (आयन्) इस प्रकार प्राप्त करती हैं जैसे (वरम् आवा-
वशाना:) वर की कामना करती हुई कन्यायें (जुष्टं पतिम्)
प्यारे पति को ।

सेनापति ज्येष्ठ हो अर्थात् आयु तथा विद्या दोनों में वृद्ध, अनुभवी हो । ऐसा पुरुष हो जिसे समान ख्याति के, परस्पर सखा-भाव से रहने वाले, सैनिक अपने से बड़ा मानें । वह तेजस्वी अर्थात् प्रभावशाली हो । सब से बढ़ कर यह कि वह "वेन" हो अर्थात् ऐसा पुरुष हो जो अपनी इच्छा का—कामना का मूर्त-रूप अपने आचरण की कान्ति को बना चुका है । जो आज्ञा वह सैनिक को देता है, उसे सब से पूर्व अपने में चरितार्थ कर लेता है । उस के वचनों की कान्ति केवल उस की वाणी तक ही परिमित नहीं किन्तु उस की प्रत्येक चेष्टा से, भाव-भंगी से चमक कर प्रकाशित हो रही है ।

उस के मन से उठी हुई ललकार सैनिकों के हृदय में घर कर जायगी । वहां तो वीर-रस पहिले ही ठाठें मार रहा है । सेनापति की ललकार उन ठाठों को और भी तेज़ कर देगी । जब ऐसे वीर के मुख से मातृ-भूमि, मातृ-भाषा तथा मातृ-संस्कृति के नाम पर अपील की जायगी, तो ये तीनों देवियाँ एक-एक सैनिक के हृदय को उछाल देंगी । उस की छाती में उमड़ रहे वीर-रस से मानो इन का पाणि-ग्रहण हो जायगा । वह वीर-रस इन के अर्पण होगा और ये देवियाँ उस अपने पति के—पालक के—अर्पण होंगी ।

कैसा सुन्दर गठ-जोड़ा है जो एक भी सैनिक के प्राण रहते टूट नहीं सकता।

इन सुमंगल-कामिनी वधुओं ने अपने हृदय की साधना से इसी इन्दु की—वीरता के उदित हो रहे इसी चाँद की—निरन्तर बाट जोही है। इसी के लिए जन्म-काल से अपना हृदय-आसन बिछा रखा है। आज सेनापति की पुरोहिताई में वीर-रस का छलकता प्याला इन की चिर-तृषित आँखों को जी भर कर पान करने को मिला है।

मातृ-भूमि धन्य है कि उस की रक्षक आर्य वीरों की वीरता है। मातृ-भाषा धन्य है कि उस के भर्ता होने का सेहरा क्षत्रियों के क्षत्रियत्व के सिर है। मातृ-संस्कृति धन्य है कि उस के हृदय की गाँठ किसी रजपूत के हृदय से बँधी है।

एक "वेन" ने—चमकते हुए सूर्य ने—इन देवियों के सुहाग का यज्ञ रचाया है। उस का यजमान—वीरों का उमड़ रहा वीर-रस जिस की ज्योति आज पूर्णिमा के चन्द्र के समान है—अपनी उज्ज्वल वीरता को बट्टा न लगने देगा। जिस काम का बीड़ा उस ने उठाया है, जिस्म में जान रहते वह उस से विमुख कभी न होगा।

दिग्विजय

३ १ २ ३ १ २ ३
साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः ।
३ १ २ ३ १२ १२ ३
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य
१ २ ३ २ ३ २ ३ २
द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥ ६ ॥

ऋषिः—नोधा = स्तुति करने वाला ।

(हरिः) चित-चोर [सेना-पति] ने (सूर्यस्य जाः) सूर्य की कन्याओं [दसों दिशाओं] की (परि-अद्रवत्) प्रदक्षिणा की है । (अत्यो न वाजी) अपने शीघ्र-गामी घोड़े की तरह वह तुरन्त (द्रोणं ननक्षे) हृदय-कलश में जा पहुँचा है । (धीरस्य) धीर पुरुष की (दश स्वसारः) ये दस बहिनें (धनुत्रीः) प्रेरक (धीतयः) सद्बुद्धियाँ बन कर उस का (साकमुक्षः) एक-साथ अभिषेक कर (मर्जयन्त) परिष्कार कर रही हैं ।

सेनापति दिग्विजय से लौट आया है । उस की दिग्विजय क्या थी ? सूर्य की कन्याओं की प्रदक्षिणा । दसों दिशायें सेनापति की बहिनें हैं ।

विजयी वीर को बहिनें तिलक लगाती हैं । उस का स्वागत करती हैं । उस की जय मनाती हैं । यह क्रिया उस के युद्ध को एक पवित्र यज्ञ का रूप दे देती है । पुरुष तो संसार में मृत्यु का काम भी कर रहा है परन्तु स्त्री विशुद्ध रूप से जन्म

ही का द्वार है। ईश्वर के स्रष्टृत्व की प्रतिनिधि माता है। जिस युद्ध में देवियों का आशीर्वाद सम्मिलित हो, उस का उद्देश्य विनाश नहीं, निर्माण है। सेनापति के देश की वहिनों ने तो दिग्विजय के आरंभ में ही अपनी मंगल कामनाओं से सैनिकों के हृदयों में धर्म की स्फूर्ति पैदा की ही होगी। अब दिग्विजय समाप्त हो चुकी है। उस के फल-स्वरूप दसों दिशाएँ सेनापति की वहिनें बन गई हैं। आर्य सेना-नायक की युद्ध-यात्रा संसार में विधवाओं और अनाथों की संख्या नहीं बढ़ाती गई। उस ने अपने पीछे रोते-चीखते बच्चे और स्त्रियाँ ही नहीं छोड़ीं। उस की दिग्विजय का उद्देश्य दीन-हीन लोगों की रक्षा था। वह इस उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुआ है। अत्याचार से पीड़ित देशों को उस ने अत्याचारियों के क्रूर पंजों से छुड़ा दिया है। दास जातियों को फिर से स्वतन्त्रता देवी के दर्शन करा दिये हैं। आज दसों दिशाओं में उस की वीरता की धूम है। देश-विदेश की देवियाँ उस का अभिषेक करने को आई हैं। वह विजेता है—दसों दिशाओं के हृदयों का विजेता "हरि" अर्थात् चित-चोर। उस ने धार्मिक साम्राज्य की स्थापना कर प्रत्येक राष्ट्र के नर-नारियों के हृदय में झट घर कर लिया है। सेनापति आज दिशाओं का भ्राता बन रहा है—सूर्य-कन्याओं का परम-प्रिय बन्धु। उस का हृदय सन्तुष्ट है कि उस का लड़ा हुआ युद्ध पशु-बल के प्रचार का नहीं, अपितु दिव्य शक्तियों के प्रसार का साधन हुआ है। आज जिस ओर भी उस की

दृष्टि जाती है, अपनी आर्य सेना द्वारा किये गये सत्कार्यों की स्मृति झट उस के हृदय में जाग उठती है। उस की दिग्विजय का वृत्तान्त परपीड़ा-हरण तथा परस्वत्व-रक्षा का समुज्ज्वल इतिहास है जिस के ध्यान-मात्र से सद्-बुद्धि का विकास होता है।

ऐसा सेना-नायक धन्य है। उस की कृति निर्मल है। उस का युद्ध विशुद्ध यज्ञ है।

शुभ संकल्पों की होड़

३ १२ ३१ २३ २३
अधि यदस्मिन् वाजिनीव शुभ
१२३ २३ २३ १र २र
स्पर्धन्ते धियः सूरे न विशः।
३१ २ ३१ २ ३ १ २
अपो वृणानः पवते कवीयान्
३ १र २र३१२ ३ १ २
व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म ॥७॥

ऋषिः—कण्वः = मेधावी।

(यत् अस्मिन्) जब इस [सेनापति के हृदय] में (शुभः धियः) शुभ बुद्धियों की (स्पर्धन्ते) होड़ चलती है (वाजिनि इव) जैसे घोड़े [के शरीर] में (शुभःधियः) शुभ गतियों की (सूरे न विशः) या जैसे सूर्य के उदय होने पर प्रजा-जनों की, तो यह (अपो वृणानः) जनता को आच्छादित करता हुआ (कवीयान्) कवियों की तरह (पवते) पवित्रता का प्रवाह लाता है, ठीक ऐसा ही (न) जैसे [गवाले का] (मन्म) मन (पशु-वर्धनाय)

पशुओं की वृद्धि के लिए (व्रजम्) बाड़े को [अपनी चित्त-वृत्तियों के प्रवाह में डुबो देता है]।

सेना-पति मूर्त सोम है । जनता के कल्याण की शुभ कामनाएँ उस के हृदय में सदैव उठती रहती हैं। प्रत्येक कामना चाहती है कि उस की सिद्धि सब से पूर्व हो। परोपकार के इन संकल्पों की एक होड़-सी उस के हृदय में लग रही है । जैसे उस का घोड़ा सुन्दर, मन को मोह लेने वाली गतियों की शिक्षा प्राप्त कर चाहता है कि उस की प्रत्येक चाल का प्रदर्शन सब से पूर्व हो जाय, इस बात का निश्चय कि किस चाल का प्रयोग किस समय होगा, सेना-पति स्वयं करता है, ऐसे ही पर-हित की कौन सी भावना कब क्रियात्मक रूप धारण करेगी, कब उस की सिद्धि के लिए सेना को कूच की आज्ञा मिलेगी, इस का निर्णय भी उस की कुशाग्र बुद्धि परिस्थितियों को देख कर करती है।

सेनापति के हृदय की भावनाएँ जनता के हृदयों को ऐसे ही आप्लावित कर रही हैं जैसे किसी लोक-प्रिय कवि की गीतमय रचनाएँ। कवि की गीतियों को लोग गाते हैं और रीझ जाते हैं । ऐसे ही सेनापति की लोकहित-पूर्ण उक्तियाँ घर-घर में प्रचलित हो जाती हैं। उन को बार-बार दोहराया जाता है । यहाँ तक कि उस के विचारों के रंग में सारा देश रँग जाता है। सच्चा सेनापति वास्तव में कवि—क्रान्तदर्शी भावुक—होता है । वह पद्य का सहारा ले न ले, उस की घोषणाओं में काव्य रहता है।

जैसे गवाला अपने मन को उठाता है, फैलाता है, अपनी वंशी की तानों द्वारा व्रज के--बाड़े के—चारों ओर अपनी कल्याणमयी वाणी का, विचार का घेरा-सा डाल देता है, ऐसे ही एक लोक-रक्षक सेनापति अपने विशाल हृदय को देश-विदश के लिए ओढ़नी-सा वना देता है। उसे मातृ-भूमि, मातृ-वाणी, मातृ-संस्कृति--इन अपनी सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक माताओं की रक्षा करनी है। वह इन्हीं के दम से जीता है। हर समय मानो इन्हें अपने हृदय में लिये खड़ा है। अपने विशाल हृदय की ओढ़नी में सुरक्षित लिये खड़ा है।

पारम्परिक प्रवाह

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।
३ २ ३ १ २ ३ १ र २ र ३
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वरिवस्कृण्वन् वृजनस्य राजा ॥ ८ ॥

ऋषिः—मन्युः = विचारक, उद्बोधक।

(इन्दुः) हृदयों को सरसाने वाला (वाजी) बलशाली (सोमः) वीर-रस (गोन्योघा) मातृ-भूमि, मातृ-भाषा, मातृ-संस्कृति का परम्परा-गत प्रवाह वहा कर (इन्द्रे मदाय)

आत्मा में हर्ष पैदा करने के लिए (सहः इन्वन्) शक्ति की प्रेरणा करता हुआ (पवते) पवित्रता का प्रवाह लाता है। (वृजनस्य राजा) शक्ति का राजा (वरिवः कृण्वन्) वर प्रदान करता हुआ (रक्षः हन्ति) राक्षस का हनन करता है और (अरातिं परि-बाधते) कृपण, आलसी, असहयोगी को चारों ओर से दवा देता है।

वीर-भाव के विना हृदय सूखे रहते हैं। युवकों का जीवन वीर-रस द्वारा ही पनपता है। वहादुरी के विचार-मात्र से हृदय में एक हरियाली-सी अनुभव होती है। भुजाओं में वल का संचार हो जाता है। आत्मा अनुभव करता है कि मैं संसार का शासक हूं—राजा हूं। शत्रुओं को दवा सकता हूं। कोई विघ्न-वाधा हो, मैं उसे हटा सकता हूं। विरोधी सव मेरे अधीन हैं। यह विचार आते ही एक विशेष प्रकार की मस्ती-सी अनुभव होती है।

इस मद का प्रयोग अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी। यदि इस वीर-रस के मद को "गोन्योघा"—संस्कृति-रूपी गायों के पारंपरिक प्रवाह का रखवाला—वना दिया जाय तो यह मद पवित्रता लाता है। सयाना सेनापति अपने सैनिकों के कंधों पर मातृ-भूमि, मातृ-भाषा तथा मातृ-संस्कृति की रक्षा का भार रख देगा। उन का शत्रु राक्षसों को—अत्याचारियों को—वना देगा, जिस से संसार का आर्थिक तथा आध्यात्मिक भला हो।

सेना में वल उमड़ रहा है। सारा दल युद्ध के लिए

उत्साह का पारावार-सा बन रहा है। इस से संसार में उत्पात भी मचा सकते हो और देशों तथा जातियों की संस्कृति-रूपी संपत्ति का विकास भी कर सकते हो। आर्यत्व रक्षा में है। क्षत्रिय का काम है "क्षत" का "त्राण" अर्थात् पीड़ितों की रक्षा, नाशोन्मुख जातियों का पुनः निर्माण। इस आर्यत्व के शत्रु दो प्रकार के होते हैं—एक "राक्षस" अर्थात् बलात्कारी, दूसरे "अराति" अर्थात् कृपण, अदान-शील, असहयोगी। बलात्कार का तो हमेशा हनन ही करना चाहिए और यदि बलात्कारी बलात्कार को छोड़ने पर तैयार न हो तो उस की गति भी वही है जो उस के राक्षस-स्वभाव की। राक्षस दूसरे को मारता है। अराति सहायता देने से इनकार करता है। इन दो में क्या भेद है? यह उदाहरण से और स्पष्ट हो जायगा। तैरना न जानने वाला एक मनुष्य नदी के किनारे खड़ा है। राक्षस उसे नदी में धकेल कर डुबो देगा। अराति डूबते को हाथ नहीं देगा, उसे बचायगा नहीं। राक्षस बड़ा अपराधी है, इस लिए उस के लिए दण्ड भी अधिक है। परन्तु जातीय जीवन में सहयोग न देना भी दोष है। यदि एक राष्ट्र, मिल रहे राष्ट्रों से अलग हो जाय और उन के सहयोग में सहायक न हो तो उसे संघ में सम्मिलित होने के लिए बाधित करना आवश्यक है। इस प्रकार के असहयोग से भी जातियों के विकास में बाधा पैदा होती है। यदि देश के साम्राज्य से कोई प्रान्त पृथक् रहना चाहे तो साम्राज्य की स्थापना ही नहीं हो सकती।

वीर के हृदय में जब "वर्जने की"—विरोधियों के विरोध की शक्ति हिलोरे ले रही हो तो उस का उत्तम उपयोग इसी राक्षस-भाव के संहार तथा अराति-भाव के परिबाधित करने में ही होगा। राक्षस तथा अराति व्यक्ति भी हो सकते हैं, जातियाँ भी। और तो और, अपने आत्मा में भी यह भाव उठ सकता है। वीर-रस का प्रवाह इन सब के साथ एक-सा वर्ताव करेगा। राक्षस-भाव चाहे अपना हो, चाहे पराया, उस का संहार करेगा और अराति-भाव को दबा देगा।

वीर का काम है वर प्रदान करना। जातियों को, व्यक्तियों को, अपने आत्मा को सभी वरने योग्य वस्तुएँ देना।

सच तो यह है कि आत्मा का कल्याण समूह के कल्याण के साथ ही हो सकता है। विश्व-हित ही वास्तविक आत्म-हित है। उस हित के रास्ते से बाधाएँ हटा देना उस हित की सिद्धि का श्री-गणेश है। वीर-रस की वर्जक शक्तियाँ इसी कार्य में लगनी चाहियें—राक्षसों को मिटा देना, अरातियों को दबा देना।

उथल--पुथल

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
अया पवा पवस्वैना वसूनि
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मांश्चत्व इन्दो सरसि प्रधन्व ।
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १
ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पुरु मेधाश्चित्तकवे नरं धात् ॥ ९ ॥

ऋषिः—कुत्सः = स्तोता ।

(अया पवा) पवित्रता के इस प्रकार से (एना वसूनि) जीवन के इन उपकरणों को (पवस्व) पवित्र कर । (इन्दो) ऐ हृदयों को सरसाने वाले वीर-रस ! (मांश्चत्वे सरसि) इस मनोहर तालाब में [जैसे] घोड़े पर चढ़ कर (प्र-धन्व) वेग से उथल-पुथल मचा (ब्रध्नः चित्) यदि कोई स्थिर है—बद्ध-मूल है तो (वातः न) वायु की तरह (तस्य जूतिम्) इस तेरे वेग को (धात्) धारण करे (पुरुमेधाः चित्) और यदि मेधावी है तो (तकवे) गति के लिए (नरं धात्) [तुझे] नेता बनाय ।

बिना वीर-रस के राष्ट्र ऐसे ही हैं जैसे खड़े हुए तालाब । उन में धन-धान्य हो सकता है, भोग के सभी सामान विद्यमान हो सकते हैं, परन्तु बिना हिले जुले वे सब सड़ाँद ही का कारण बनेंगे । तालाब कितना भी मनोहर हो,

यदि उस का पानी बदला न गया तो अवश्य सड़ाँद पैदा करेगा।

इसी प्रकार जातियों के जीवन में भी उथल-पुथल होती रहनी आवश्यक है। समय के साथ-साथ व्यवस्था बदलती ही जाय, तभी कल्याण है। राज-वर्ग का चुनाव फिर-फिर हो जाता रहे। नये शासक नये विधान लायँगे और राष्ट्र को आगे ले जायँगे।

कोई राष्ट्र हमेशा के लिए एक स्थान पर खड़ा नहीं रह सकता। उसे बद्ध-मूल रहने के लिए भी अपने में हवा की सी तेज़ी लानी चाहिये। जो वृक्ष हिलते जुलते नहीं, उन की जड़ों को कीड़े खा जाते हैं। वृक्ष गिरने से वरे-वरे, जितना अधिक हिले उतना बद्ध-मूल होगा।

बुद्धिमान् क्रान्तियों से घबराते हैं। नीति-निपुण लोग प्रयत्न करते हैं कि क्रान्तियाँ न हों। पुराने विधानों में धीरे-धीरे विकास ही होता जाय। परन्तु विकास भी तो गति ही को कहते हैं। यदि शासक वीर हों, परिवर्तन-मात्र से डरने वाले न हों तो वे जाति की गति को संयम में रख, उसे विप्लवों से बचा सकते हैं। परन्तु इस धीरता के लिए भी तो वीरता चाहिये। धीर-पुरुष का वीर-रस अधिक स्थायी होता है। वह डरता नहीं, पूरे साहस से काम लेता है। उस के साहस में उतावली नहीं होती—यही उस की वीरता की विशेषता है।

राष्ट्र की जड़ें पाताल तक चली जायें—इस के लिए

अधिक दूर-दर्शिता, अधिक नीति-निपुणता और इस के साथ-साथ अधिक उत्साह तथा वीरता की आवश्यकता है। क्रान्ति अनिवार्य है। धीरे-धीरे हो जाय तो शान्ति-पूर्वक हो जायगी। एक दम हुई तो तख्ता उलट कर रख देगी। विकास का विरोध, विद्रोह का जन्म-दाता होता है।

चमत्कारी बुद्‌बुदा

३ १र २र ३ १ २ २ ३
महत्तत्सोमो महिषश्चकारा-
१र २र ३ २
पां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र
अदधादिन्द्रे पवमान ओजो
२र ३ २ ३ २ ३ १ २
ऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥१०॥

ऋषिः—पराशरः = वृद्ध।

(सोमः) वीर-रस ने (महिषः) बादल बन कर (तत् महत् चकार) यह अद्भुत काम किया है (यत् अपां गर्भः) कि पानी का एक बुद्‌बुदा (देवान् अवृणीत) देव-गणों पर छा गया है। (पवमानः) इस पवित्रता लाने वाले रस ने (इन्द्रे) आत्मा में (ओजः अदधात्) ओज पैदा कर दिया है (इन्दुः सूर्ये) मानो चाँद ने सूर्य में (ज्योतिः अजनयत्) ज्योति पैदा कर दी है।

क्रान्तियों के युग करामातों के युग ही होते हैं। पुराना राज-वर्ग अपने आप को देव समझ रहा होता है। राज्य करने का उन लोगों का सब से पहिला अधिकार यही है कि वे राज्य कर रहे हैं। उन का वंश दिव्य है, उन की शक्तियाँ दिव्य हैं, उन की सत्ता दिव्य है। प्रजा में उन के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठती है तो उसे एक क्षणिक तरंग समझ कर दबा दिया जाता है। किसी के सपने में भी नहीं आता कि ये पानी के बुद्बुदे "दिव्यता" की इस चट्टान से टक्कर लेंगे। देखते-देखते ये हलकी-हलकी तरंगें ऊपर को उठती हैं। वाष्प-रूप से आकाश में फैलती हैं। एक ओर से एक बदली-सी बनती और फिर टूटती दिखाई देती है। राज-वर्ग हँसता है—यह क्षुद्र बदली क्या करेगी? बदली फैलती है, उत्तरोत्तर घनी होती जाती है। आख़िर को चारों ओर से एक घटा-सी उमड़ आती है। अब वह "दिव्य" राज-वर्ग अपने आप को इस घटाटोप अँधेरे में घिरा पाता है। बिजलियाँ कड़क रही हैं, बादल गरज रहे हैं। बुद्बुदे ने अपना दिव्य हथियार सँभाल लिया है।

वीर-रस आत्मा ही की शक्ति है। उसी की एक तरंग की ही उपज है। परन्तु अब तो आत्मा को ओज ही इसी रस से मिल रहा है। फल वृक्ष को बलवान् बना रहा है। यह अचंभा ऐसा ही है जैसे चाँद सूर्य को रौशनी देने लगे।

प्रजा-वर्ग चाँद है, राज-वर्ग सूर्य। परन्तु क्रान्ति ने तख़्ता ही उलट दिया है। राज-वर्ग पर प्रजा-वर्ग शासन कर रहा है। प्रजा अपनी शक्ति का संचार राज-वर्ग में करती है। वे पानी के बुद्बुदे अब अपने मनो-वांछित "देवगण" का वरण—चुनाव—करते हैं। अब तो दिव्य सत्ता उन्हीं की है जो इन बुद्बुदों के कहने पर नाचें।

प्रभु के प्यारे, बुद्बुदे भी हों तो तरंग हैं, बाढ़ हैं, समुद्र हैं। वास्तविक दिव्यता इन्हीं दिव्य बुद्बुदों ही की है।

——

वाचाल व्रत

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
धिया मनोता प्रथमा मनीषा।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
मृजन्ति वह्निꣳसदनेष्वच्छ ॥११॥

ऋषिः—कश्यपः = द्रष्टा।

(**दश स्वसारः**) दसों दिशाएँ बहिनें बन कर (**अव्ये सानौ अधि**) भावना की चोटी पर चढ़ी (**सदनेषु**) अपने-अपने स्थानों में (**वह्निम् अच्छ**) पृथिवी माता का भार उठाने वाले [सेनापति] को लक्ष्य कर (**मृजन्ति**) मंगल मना रही हैं—अभिषेक-उत्सव कर रही हैं। (**धिया**) धारणा द्वारा (**मनोता**) मनों को ओत-प्रोत करने वाला (**प्रथमा**

मनीषा) प्रथम संकल्प (यथा) किस [अद्‌भुत] प्रकार से (रथ्ये आजौ) महारथियों के युद्ध के रूप में (वक्रा असर्जि) बोल उठा ।

सेनापति ने संसार को प्रेम के सूत्र में बाँधने का शुभ संकल्प किया था। उस ने इस संकल्प की ध्वनि सारे संसार में गुँजा दी। युवकों के हृदय उस की पवित्र विचार-धारा में सन गये। उठते बैठते, सोते जागते, उन के हृदयों में सेनापति के शब्द गूंजने लगे। यहां तक कि उस की सेना में भरती हुए बिना उन्हें चैन आना कठिन हो गया। वे उस के झण्डे के नीचे इकट्ठे हुए। उस ने विश्व को अपना परिवार समझा था। दसों दिशाएँ उस की बहिनें थीं। सब दिशाओं ने अपनी पवित्र राखी उस की भुजा पर बाँध रखी थी। दिग्विजय के लिए उस का प्रस्थान वास्तव में अपनी बहिनों के प्रेम-पूर्ण बुलावे का क्रिया-रूप उत्तर था। दुन्दुभियों तथा भेरियों के नादों में, गोलों की बाढ़ों और बारूद की बौछाड़ों में सेनापति का वह शुभ संकल्प बोल रहा था। दिशा-दिशा में उस ने छावनियाँ लगाई हैं। राक्षसों का संहार कर असहयोगी राष्ट्रों को अपने दिव्य प्रभाव के अधीन कर लिया है। दसों दिशाओं में उस की सफलता के जय-नाद हो रहे हैं। लोग अपने घरों में उस की पूजा के गीत गा रहे हैं। उस की दिग्विजय के जय-नादों से ज़मीन-आसमान गूंज उठे हैं। मूक संकल्प कैसे वाचाल हो उठता है ! एकान्त में किया गया विचार किस तरह पहिले शब्द

का और फिर क्रिया का रूप धारण करता है ! संकल्प की वास्तविक भाषा क्रिया ही है । विघ्न-बाधाओं से संघर्ष ही तो वीरों का असली गीत है । सफलता ही उन का जाप है । यह देख कर दसों दिशाएँ मुग्ध हैं । अपने प्रेमाश्रुओं से उस का अभिषेक कर रही हैं—उसे अर्घ दे रही हैं ।

संकल्प-समारोह

३ २ ३ २ ३ २ ३ १२ ३
अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
प्र मनीषा ईरते सोममच्छ ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं
२२ ३ २ ३ १ २
चा च विशन्त्युशतीरुशन्तम् ॥१२॥

ऋषिः—प्रस्कण्वः = प्रकृष्ट मेधावी ।

(मनीषाः) संकल्प (सोमम् अच्छ) वीर-रस की ओर (अपाम्) पानी की (तर्तुराणाः) उछल रही (ऊर्मयः इव इत्) तरंगों की तरह (प्र-ईरते) बढ़ रहे हैं । (उशतीः) चाव-भरी (उशन्तम्) उस चाव के माते को (नमस्यन्तीः) नमस्कार करती हुई (उप च यन्ति) उस के निकट जाती हैं । (सम्-विशन्ति आ-विशन्ति च) उस में समाविष्ट हो-हो कर आवेश ला रही हैं ।

क्रान्ति के दिनों में वीर-रस ही प्रधान रस होता है। शेष सब रस उस में समा जाते हैं। जनता की मनो-वृत्तियाँ सब वीरता के रंग में रँग जाती हैं। हृदय-मण्डप में इन वृत्तियों का उस मधुर रस से एक सुन्दर गठजोड़ा-सा होता रहता है। उस अलौकिक यज्ञ-स्थली में हो रहे वर-सत्कार का दिव्य दृश्य देखने की वस्तु है। किस प्रकार उस संघर्ष-काल के, जन्मोत्सव, वेदारंभ, समावर्तन, विवाह उस एक रस के नशे में सिर से पैर तक शराबोर होते हैं, यह देखने ही की वस्तु है। सारा देश वीरता के मद का मस्ताना है। सारी जाति के हृदयों में वीर-रस का एक आवेश-सा—उद्रेक-सा हो रहा है। वीर-रस अंगी है और शेष सब रस अंग। रसों की एक बाढ़-सी आई हुई है। पति-पत्नी का, गुरु-शिष्य का, पिता-पुत्र का—ये सब संबन्ध धर्म-युद्ध को ही लक्ष्य में रख कर हो रहे हैं। कैसा पुण्य यज्ञ है ! एक विश्व-व्यापी रस-पूर्ण वीरोत्सव है। बच्चा पैदा हुआ, उसे वीर-रस की लोरियाँ दे रहे हैं। वह गुरुकुल में प्रविष्ट हुआ, उसे देश-सेवा के आशीर्वाद दिये जाते हैं। शिक्षा समाप्त कर वह गुरुकुल से लौटने लगा, उस का स्वागत देश तथा जाति की रक्षा के लिए किया जाता है। विवाह के मण्डप में वीर कन्या एक देश के परवाने को अपना हृदय पेश कर कह रही है—इस की लाज रखियो। सब ओर सोम ही सोम बरस रहा है। वीर-रस की बाढ़-सी आई हुई है।

खेल रही अलबेली फाग ॥

लाख रसों का एक वीर-रस, उठा हृदय में जाग।
सौंप दिया सर्वस्व वीर को, फिर क्या गृह-अनुराग।
मां-जाया है? पति है? सुत है? कहती—"रण-भू भाग।
आय लौट वेदि से गुरु की? जलो वीर! बन आग।"
नाच रहा नेत्रों की अणि पर, मां का मन बे-लाग।
भेंट-भेंट क्षण-क्षण बलि नूतन, कहती—"अहो सुहाग!"

खेल रही अलबेली फाग ॥

॥ ओ३म् ॥

अष्टम खण्ड

छन्दः—१–६,८,९ अनुष्टुप्, ७बृहती। स्वरः—१–६,८,९गान्धारः,७मध्यमः॥

लम्बी जीभ का कुत्ता

३ १ ३   ३   १ २
पुरोजिती वो अन्धसः
३ १ २   ३ १ २
सुताय मादयित्नवे ।
३   १२   ३
अप श्वानꣳश्नथिष्टन
१ २   ३क २र
सखायो दीर्घजिह्व्यम् ॥ १ ॥

ऋषिः—श्यावाश्वः = वृद्ध गति वाला।

(अन्धसः) सभी जीवन-प्रद पदार्थ (वः पुरोजिती) तुम्हारे सामने जीते रखे हैं। (सखायः) ऐ मित्रो ! (सुताय मादयित्नवे) अब इस लिए कि तुम्हें तुम्हारा [विजय-] यज्ञ आनन्द दे, (दीर्घजिह्व्यं श्वानम्) [लालच के] लम्बी जीभ के कुत्ते को (अप श्नथिष्टन) हटा कर ढीला छोड़ दो।

विजय हो ली। पराजित देश अब विजयी सेना के चरणों में पड़ा है। उस देश की सारी सम्पत्ति अब मानो विजेताओं की अपनी चीज़ है। जिस पदार्थ पर वे हाथ डालें, उसे अपना बना लें। संसार के विजेताओं ने अपनी विजय के उन्माद में कौन-कौन से उपद्रव नहीं किये ? धन तो धन, स्त्रियाँ और बच्चे हथिया लिये हैं। जो मनुष्य काम दे सकता है, उसे दास बना लिया। शेष तलवार के घाट उतार दिये। विजित जनता के किसी व्यक्ति से अनजाने में कोई अवज्ञा हो गई। बस! उस का दण्ड सार्वजनिक हत्या के रूप में दिया जा रहा है। लूट-मार, चोरी-जारी—ये तो विजयी वीरों के विजयोपहार ही समझे जाते हैं।

परन्तु वैदिक सेनापति के लिए युद्ध भी यज्ञ था और विजय भी एक यज्ञ है। जहां युद्ध समाप्त हुआ और उसे विजय का सेहरा पहनाने लगे, वह पहिली ही घोषणा में अपने सखाओं—विजय-यश के बराबर के हिस्सेदार, सैनिक साथियों से कहता है—भाई देखना! विजय का मज़ा किर्करा न कर देना। तुम लड़े हो संसार की सभी जातियों को सुख-पूर्वक जीने का, चौमुखी उन्नति करने का, समान अवसर देने के लिए। इस प्राण-प्रद संजीवनी को तुम ने आज पा लिया है। तुम्हारी वीरता के परिणाम-स्वरूप अब सभी देश सुखी हैं। कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता है। तुम्हारा संग्राम वैदिक है। वेद में संग्राम और यज्ञ

पर्याय हैं। तुम लड़े हो परोपकारार्थ। अब कहीं इस परोपकार की भावना को बट्टा न लगा देना। यज्ञ की सामग्री कहीं कुत्तों से झूठी न करवा देना। पवित्र पदार्थ कहीं अन्तिम अवस्था में पहुँच कर अपवित्र न हो जाय। यज्ञ की वेदी के पास कुत्ता जीभ लटकाए खड़ा हो, कितना बीभत्स प्रतीत होता है ! इसी प्रकार यदि विजेताओं के हृदय में लालच घर कर जाय तो विजयी केसरी, कूकर-सा बन जाता है। इस समय तो लालच को केवल क़ाबू में कर लेना पर्याप्त नहीं। यह वशीकार की चेष्टा तो ऐसी ही है—जैसे कुत्ते को वेदी के पास बाँध दें। अब वह शाकल्य को झूठा तो नहीं कर सकेगा परन्तु भौंक-भौंक कर उद्गाताओं के गीत का स्वर-ताल अवश्य बिगाड़ देगा। किसी प्रकार चुप भी करा दिया जाय तो भी उस की लटकती जीभ यज्ञ के अनुरूप दृश्य कदापि नहीं है। यही दशा विजेताओं के वशीकृत लोभ की है। इसे यज्ञ से दूर ही दूर रखना चाहिये। सैनिकों के मन में इस की वासना तक न रहे, तभी उन की विजय एक पवित्र यज्ञ का रूप धारण कर सकती है। विजयी, सिंह रहें, कूकर न बनें।

जीवन-दाता

अयं पूषा रयिर्भगः
सोमः पुनानो अर्षति ।
पतिर्विश्वस्य भूमनो
व्यख्यद्रोदसी उभे ॥ २ ॥

ऋषिः—ययातिः = निरन्तर गति करने वाला ।

(अयं पूषा) यह पुष्टि-कारक (रयिः भगः सोमः) रमणीय सौभाग्य-स्वरूप संजीवन-रस (पुनानः अर्षति) पवित्रता का प्रवाह लाता हुआ फैल रहा है । (विश्वस्य भूमनः पतिः) सम्पूर्ण भूत-जात के स्वामी ने (उभे रोदसी) द्युलोक और पृथिवी दोनों को (व्यख्यत्) [एक नया] प्रकाश दे दिया है ।

जातियों का सौभाग्य इसी में है कि उन में वीर-रस का संचार हो । विनाशक वीर-रस नहीं, किन्तु पुष्टि-कारक वीर-रस का । ऐसे वीर-रस का जिस का ध्यान आते ही हृदय पवित्र हो जाय । जब-जब किसी वीर के कारनामों का स्मरण किया जाय, उन में शुद्ध सदाचार, यम-नियम आदि की रक्षा, प्रजा-पालन, परस्वत्व-रक्षण की ही विमल आभा मिले ।

ऐसे वीर-रस का संचार प्रभु की—ज़मीन-आसमान के मालिक की—अपनी देन है । यह उस के प्रभु-भाव ही का प्रकाश है। ऐ लो ! ज़मीन-आसमान दोनों उस की प्रभुता के रंग में रँगे हुए हैं । सारी पृथिवी, सारा आकाश मानो एक विशाल परिवार-सा हो रहा है । उस में प्रीति, प्यार, परस्पर-विश्वास तथा सहयोग की पुण्य भावना हृदयों को निरंतर आन्दोलित कर रही है । प्रभु वीर है । उस के सैनिक भी वीर हैं । प्रभु-भक्तों की वीरता लोक-रक्षा का दूसरा नाम है । सैनिक सच्चा सेवक है । क्षत्रिय वही है जो दुःख से बचाय। आर्य लड़ैतों का यह पुराना लक्षण वर्तमान काल में वास्तव में क्रान्तिकारी ही होगा । सैनिक और सेवक ! क्षत्रिय और रक्षक ! वैदिक वर्ण-व्यवस्था में ये सब पर्याय हैं । युद्ध और पवित्रता ! क्रान्ति और शान्ति ! इन में कार्य-कारण संबन्ध है । जान आख़िर हर एक को प्यारी है। जान की बाज़ी कोई क्यों लगाय यदि उस बाज़ी का लक्ष्य जान से भी कोई बढ़ कर प्यारी चीज़ न हो । वह प्यारी वस्तु धर्म है, विश्व-हित है, लोकोपकार है । आर्यों की वीरता भूत-जात की रक्षक है ।

भांति-भांति के सोम

३ २३ १२ ३ २ २ १ २ ३ १ २
सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥२॥

ऋषिः—ययातिः = निरन्तर गति करने वाला।

(मधुमत्तमाः) अत्यन्त मीठे (इन्द्राय मन्दिनः) आत्मा के लिए हर्ष का कारण (सोमाः) विविध प्रकार के वीर-रस (सुतासः) पैदा हुए हैं । (पवित्रवन्तः अक्षरन्) ये हृदय की चलनी में आ-आ कर टपक रहे हैं । [इन्हें देख कर अनायास मुँह से निकलता है]—(वः मदः देवान् गच्छतु) तुम्हारा नशा देवताओं को प्राप्त हो।

वीर-रस का प्रकाश एक ही रूप में नहीं होता है । जो तलवार चला रहा है और जो भट्टी पर बैठ कर तलवार ढाल रहा है; जो लड़ाई का सामान इकट्ठा कर भेज रहा है और जो युद्ध के मैदान में उसे लड़ंतों में बाँट रहा है; जो गोली चलाने की आज्ञा दे रहा है और जो उस आज्ञा को बिना ननु-नच किये पालन कर रहा है—युद्ध की सफलता का सेहरा इन सब के सिर है । राष्ट्र की व्यवस्था में जो जिस का स्थान है, उसी के अनुसार वह अपना कर्तव्य पूरा करता जाय । इसी में उस की वीरता है ।

पापियों को दण्ड देना शूरों का काम है । परन्तु पश्चात्ताप करने पर उन्हें क्षमा कर देना उस से भी अधिक शूरता का द्योतक है । सोम तो संजीवन-रस है । जिस

प्रकार के व्यवहार से व्यक्ति तथा जाति को नया जीवन प्राप्त हो, वह व्यवहार "सोम" है । ब्राह्मण का सोम-रस और है, क्षत्रिय का और, परन्तु हैं दोनों सोम ।

सोम देवताओं का रस है । असुरों का रस सुरा है । सोम का नशा सात्विक है । दिव्य-स्वभाव का पुरुष ही इस नशे का आनन्द ले सकता है । राक्षस को इस में मज़ा नहीं आता । सैनिक सब देव होने चाहियें । उन का धर्म-कर्म सब दिव्य ही होगा । वे मारते हुए भी रक्षा करेंगे । उन की चलाई तलवार जातियों को पुनरुज्जीवित करेगी । उन की दाग़ी हुई तोप आततायिओं का नाश कर पर-पीड़ितों को नया जीवन देगी । उन का युद्ध सोम-रस का सवन है ।

निष्पाप सैनिक

१ २ ३ १ २३ १ २ २ १ २
सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
३ २ ३ १ २ ३१२ ३क २ १ २
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥४॥

ऋषिः—मनुः = विचारक ।

(मित्राः) मित्र-स्वभाव के, सब से स्नेह करने वाले (स्वानाः) गान-स्वरूप (अरेपसः) निष्पाप (स्वाध्यः) शुभ संकल्प के (स्वर्विदः) स्वर्गीय जीवन वाले (गातुवित्तमाः) मार्गों के उत्तम ज्ञाता (इन्दवः) हृदयों को सरसाने वाले (सोमाः) संजीवन-रस के पुतले (अस्मभ्यं पवन्ते) हमारी तरफ़ पवित्रता का प्रवाह ला रहे हैं ।

वैदिक सैनिकों के दर्शन से जनता के हृदय भावना का रूप धारण कर मानो मूर्त अभिनन्दन हो रहे हैं। सैनिक सब का मित्र है। उस में द्वेष का नाम नहीं। क्षत्रिय का व्रत ही है—क्षत का त्राण। वह स्नेह-स्वरूप है। उस का स्पर्श-मात्र मानो ज़ख्मी हृदयों के लिए मर्हम है। वह एक मूर्त गान है जिस के शब्द से दुःखी आत्माओं को सान्त्वना मिलती है। उस का आचार तो आचार, विचार भी पाप के लेश तक से मुक्त हैं। वह एक चलता-फिरता स्वर्ग है। स्वयं वीर-रस की हिलोरों में मस्त है। दूसरों के लिए उस का दर्शन ही स्वर्ग-धाम की प्राप्ति है। कुशल आचार्यों के उपदेश से शिक्षा प्राप्त कर वह स्वयं धर्म के मार्ग का यात्री हुआ है, और अन्यों को अपने उदाहरण से कल्याण का रास्ता दिखा रहा है। सब से बड़ा त्याग अपने जीवन का त्याग है, सो वह हर घड़ी करने को तैयार है। प्राणों की आहुति से ही जीवन-यज्ञ पूर्ण होता है। यह पूर्णाहुति वह हर घड़ी दे रहा है। इसी से उस का जीवन यज्ञिय है। वह इन्दु है। सूखे हृदयों पर नये जीवन की ज्योति छिटका-छिटका कर उन्हें सरसा देने वाला। उस का जीवन तो सौम्य है ही। उस में अमृत है—संसार-भर को जिला देने की शक्ति है। उस की मृत्यु भी तो देशों तथा जातियों के लिए संजीवन है। वह मरता है इस लिए कि और जियें। इस से अधिक सोम—संजीवन-रस का पुतला—और कौन हो सकता है ?

दान-वीर

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभी नो वाजसातमँरयिमर्ष शतस्पृहम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥५॥

ऋषिः—अम्बरीषः = दिशाओं को गति देने वाला ।

(इन्दो) हे स्निग्ध ज्योति वाले संजीवन-सुधाकर ! (वाज-सातमम्) अन्न, बल तथा ज्ञान का भरपूर दान करने वाले (शतस्पृहम्) सैकड़ों के वाञ्छनीय (सहस्रभर्णसम्) हजारों के जीवनाधार (तुविद्युम्नम्) तेजोमय (विभासहम्) अपने से विपरीत तेजों को मात कर देने वाले (रयिम्) धन की (नः अभि-अर्ष) हमारे चारों ओर बहुतायत कर ।

मैत्री के पुतले आर्यवीर की अगुवानी संसार-भर की जातियाँ कर रही हैं। मानव-परिवार एक स्वर से पुकार-पुकार कर कह रहा है—हे प्रेम-पूर्णिमा के चाँद ! उदय हो ! उदय हो !! हमें पेट-भर अन्न नहीं मिलता। पृथिवी माता की कोख उर्वरा है, शस्य-श्यामला है । तो भी हमें अन्न नहीं मिलता। तू अपने विश्व-प्रेम की चाँदनी इस अंधकारमय भूमि पर छिटका। विलुप्त हरियाली प्रकट हो जाय। पृथिवी अन्न उगले। हमारा पेट भरे। धनवानों के घर में पल्ले खड़े सड़ रहे हैं। उन्हें इस बात की चिन्ता है—सड़ रहे नाज का नाश कैसे करें ? निर्धनों के पेट सूखी चमड़ी-से बन रहे हैं। तू अपने सरस स्नेह से इस

चमड़ी को सरसा। धनवानों-निर्धनों का समझौता करा। दोनों की मुसीबत मिटे। धनी पर धन भार हो रहा है। इसे हलका कर। निर्धनों के जीवन आधार-मात्र को तरस रहे हैं। उन्हें आधार दे। एक का भार उतरे, हजारों के जीवनों को आधार मिल जाय। यह करामात प्यार का पुतला आर्य-वीर ही तो कर सकता है।

आर्य योद्धा! तू ज्ञानी है। तुझे धनुर्विद्या तो आती ही है। इस से बढ़ कर तुझे धर्म का, न्याय-नीति का ज्ञान है। तू लड़ता है गले मिलने के लिए। तेरी भुजा उठती है विश्व-प्रेम का पाश बन कर। तेरी आँख में, वाणी में, अंग-अंग में तेज है। तेरे हथियारों से भी अधिक पैनी तेरी बुद्धि है। तू उस बुद्धि का प्रकाश कर। देश-विदेश की ज्ञान-परम्परा फिर से चमक उठे। प्राण-हीन संस्कृतियाँ फिर से सजीव हो जायें। संसार में सभ्यता की होड़ हो। आज सभी देशों का कौशल दूसरे देशों के विनाश ही में प्रकट होता है। तू अपनी बुद्धि के विचित्र कौशल से इन्हें एक दूसरे से मिलना सिखा। आज व्यक्ति सुसभ्य हैं, जातियाँ बनेली—हिंसक। वैयक्तिक आचार के नियम जातियों पर भी लागू कर।

बल अन्न में भी है, ज्ञान में भी। विनाश में व्यय हो रहा बल निर्माण की ओर प्रवृत्त हो जाय तो संसार से दरिद्रता, मूर्खता, निर्बलता—इन तीनों विपत्तियों का एक-साथ बहिष्कार हो। आर्य योद्धाओं के बल के आगे सभी विपरीत

वल मात हैं। सदाचार के आगे दुराचार की क्या मजाल है जो एक क्षण भी ठहर सके।

आर्यों का धन देने के लिए है। आर्यों का ज्ञान संसार को रास्ता दिखाने के लिए है। आर्यों का बल बल-हीनों को बलशाली बनाने के लिए है। दान वीरों की सब सम्पत्ति—सम्पूर्ण रयि—"वाजसा" है अर्थात् अन्न देने वाली, ज्ञान देने वाली, वल देने वाली।

पहलौंटी का पुत्र

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
अभी नवन्ते अद्रुहः प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
३ २ ३ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
वत्सं न पूर्व आयुनि जातꣳ रिहन्ति मातरः॥६॥

ऋषिः—ऋभसूनू = ज्ञानी के पुत्र।

(अद्रुहः) बिना द्रोह की प्रजाएँ (इन्द्रस्य प्रियं काम्यम्) आत्मा की प्यारी भावना की (अभि-नवन्ते) प्रदक्षिणा कर पूजा करती हैं (न) जैसे (मातरः) माताएँ (पूर्वे आयुनि जातम्) प्रथम आयु में पैदा हुए (वत्सं रिहन्ति) बच्चों को [गायों की तरह] चाटती हैं।

प्रजाएँ किसी भी देश की हों, उन में द्वेष तथा द्रोह नहीं होता। साधारण जनता को दूसरे राष्ट्रों की जनता से प्रेम होता है। द्वेष का बीज शासक लोग बोते हैं। इन्हें अपने स्वार्थों की सिद्धि से काम है। ये व्यर्थ के वैर का प्रचार

कर राष्ट्र की जनता को अन्य राष्ट्रों की जनता से लड़ाते रहते हैं। जब कोई प्रभु का प्यारा उठ कर मानव जाति को फिर से विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ाता है, उन्हें द्वेष की जगह परस्पर सहयोग की शिक्षा देता है, तो उन के सिर उस के उपदेशों पर झूम-झूम जाते हैं। उस के, विना आडंबर के, सीधे-सादे शब्दों में उन्हें अपने आत्मा की आवाज़ सुनाई देती है। कोई प्रौढ़ राजनीतिज्ञ—खुर्रांट शासक इस हलकी, धीमी-सी आवाज़ पर कान न भी दे। साधारण जन उस आध्यात्मिक सन्देश पर वारे-न्यारे जाते हैं। उन के लिए आत्मा की यह नई आवाज़ मानो पहलौंटी का पुत्र है। जैसे कन्या माता बन कर अपने आप को एक नई स्थिति में अनुभव करती है, ऐसे ही द्रोह तथा द्वेष की अभ्यासी प्रजाएँ विश्व-प्रेम की इस नूतन बांसुरी को सुन कर वे अपने आत्मा की कोख से इस नूतन संदेश को जन्म पाते देख कर उसे चूमती हैं, चाटती हैं, चारों ओर से उस के दर्शन कर-कर निहाल हो जाती हैं। उन की मुग्ध दृष्टि इस नूतन ज्योति की प्रदक्षिणा कर-कर उसे पूजती है। संसार में विश्व-प्रेम का—मानो सिरे से एक नये युग का—जन्म होता है। आत्मा को यही युग प्यारा है। यही उस का कमनीय सोम-रस है, जिसे पी-पी कर वह नाच उठता है। उस की विश्व-विजय का सेहरा इसी सोम के सिर है।

वीरता का धनुष

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ हर्य्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम् ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
शुक्रा वियन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे महीयुवः ॥७॥

ऋषिः—ऋभसूनू = ज्ञानी के पुत्र ।

[धनुर्धर] (पौंस्यं धनुः) वीरता के धनुष को (हर्यताय) प्रजाओं द्वारा कमनीय (धृष्णवे) इस धर्षण-शील सोम-रस के लिए (आतन्वन्ति) चारों दिशाओं में तानते हैं। (असुराय) प्राणों में रम जाने वाले (निर्णिजे) निःशेष सुधार के लिए (महीयुवः शुक्राः) महत्वाकांक्षी शक्तिशाली जन (विपाम् अग्रे) बुद्धिमानों के आगे-आगे (वियन्ति) विविध प्रकार से चलते हैं।

राक्षसों का दमन करना देव-जनों का काम ही है। जहां अत्याचार हो रहा है, उस के विरुद्ध हथियार उठाना क्षत्रियों का परम कर्तव्य है। क्षत्रिय, क्षत्रिय ही तभी तक है जब तक वह क्षत का त्राण करता है। उस के धनुष में मर्दानगी का चिल्ला तभी तक चढ़ा रहेगा जब तक वह विश्व का सुधार करने के लिए जान लड़ाता है। बुरी प्रथाओं को हटाना और अच्छी रीतियाँ प्रचलित करना—यही क्रान्तियों तथा युद्ध-यात्राओं का लक्ष्य है। जब तक बुराई का बीज है, जब तक उस का निःशेष नाश नहीं होगा तब तक व्यक्तियों तथा समष्टियों के प्राण संकट में रहेंगे ही। इस अवाञ्छनीय अवस्था को उलट देना ही आर्य वीरों की वीरता का ध्येय

होना चाहिये। वैदिक विधि से "महान्" बनने का मार्ग यही है। इतिहास में "महान्" शब्द का प्रयोग प्रायः सार्वजनिक रक्तपात करने वालों के साथ हुआ है। वेद के 'महीयु' सुधारक हैं—समाज का आमूलचूल संशोधन करने वाले। शक्ति "शुक्र"—शुभ्र तभी होगी, जब उसे धर्म की—समाज के धारण करने वाले नियमों की—स्थापना में लगाया जायगा।

निःस्पृह विद्वान् इन नियमों के मर्म को जानते हैं। योद्धाओं की पीठ ब्राह्मण ठोकने चलें। वे जहां चाहें, योद्धा उन की प्रेरणा से आगे ही आगे चलें। उन से धर्म के मर्म को समझें और उस की स्थापना में अपना दल-बल लगा दें। क्षत्रिय की सफलता ब्राह्मण का आशीर्वाद पाने में है और ब्राह्मण की, क्षत्रिय को सन्मार्ग का प्रदर्शन करने में। आर्यों का दिग्विजय धर्म-विजय ही का दूसरा नाम है।

भूरा वीर

२३ १ २३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
परि त्यꣳहर्य्यतꣳहरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
३ २उ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
यो देवान् विश्वाँ इत् परि मदेन सह गच्छति ॥८॥

ऋषिः—ऋजिश्वा = सरल गति करने वाला।

(यो मदेन सह) जो मस्त हो-हो कर (विश्वान् देवान् इत्) सब देव-जनों ही के (परि-गच्छति) चारों ओर

घूमता है (त्यम्) उस (हर्यतम्) कमनीय (बभ्रुं हरिम्) भूरे वीर को वे (वारेण) रोमाञ्च ला-ला कर (परि-पुनन्ति) चारों ओर से पवित्र करते हैं ।

आर्य वीर का भूषण तपस्या है । उस की वेष-भूषा तपस्या की धूलि है । वह इसी धूलि-धूसर रंग में ही भला मालूम होता है । प्रजाएँ उस की मटियाली आकृति पर वारी-न्यारी जाती हैं । केवल प्रजाएँ ही क्यों ? देव-गण उस की निष्पाप वीरता पर दिव्य लोक से पुष्प-वृष्टि कर रहे हैं । वह न धन से क़ाबू आता है न जन से । पाशविक बल उसे कदापि नीचा नहीं दिखा सकता । प्रलोभन के पाश उस ने पहिले ही से तोड़ रखे हैं । उस पर यदि किसी का जादू चल सकता है तो दिव्य-स्वभाव ब्राह्मणों का । उन का वह दास है । दिव्य स्वभाव जिस भी मनुष्य में है, उस की वह तन से, मन से अहर्निश प्रदक्षिणा कर रहा है । दिव्य गुणों पर वह कुछ भी न्यौछावर कर देगा । ऐसा करने में उसे एक अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती है । विनय वीर का भूषण है । जो सिर धन के आगे नहीं झुकता, संसार की विभूतियों के आगे नीचा नहीं होता, एक, दैवी सम्पत् के स्वामी, निर्धन ब्राह्मण के चरणों में अपने आप विनम्र हुआ पड़ा है ।

किसी सच्चे ब्राह्मण की चरण-वन्दना करते हुए एक वास्तविक वीर को अलौकिक आह्लाद की प्रतीति होती है । ऐसा करते ही उसे रोमांच हो आता है । इस से वह

पहिले की अपेक्षा अधिक पवित्र, अधिक निष्पाप मनोवृत्ति लाभ करता है।

रोमांच संयम का अपूर्व साधन है। भावना द्वारा, बिना बलात्कार के चरित्र का सुधार हो जाता है। इस चलनी में से जो भी भाव छन गया, वह सब प्रकार के लव-लेश से मुक्त हो गया। सच्चे साधु की चरण-रज "बभ्रु" वीरों का अछूता अलंकार है।

यज्ञ या लोभ ?

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
प्र सुन्वानायान्धसो मर्त्तो न वष्ट तद्वचः
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
अप श्वानमराधसꣳहता मखं न भृगवः ॥९॥

ऋषिः—प्रजापतिः = प्रजापालक ।

(अन्धसः) प्राण-प्रद [वीरता] की (तत् वचः) इस आवाज़ की (मर्त्तः) साधारण मनुष्य (न वष्ट) कामना न करे। यह आवाज़ तो (सुन्वानाय) यज्ञ करने वाले के लिए (प्र-[ईरितम्]) उठी है। तुम (भृगवः) तपस्याओं द्वारा भूने हुए वीर (मखम्) यज्ञ की (न हत) हिंसा मत करो। हां ! (श्वानम् अपहत) [लोभ-रूपी] कुत्ते को दूर भगा दो।

एक तरफ़ लोभ है, दूसरी तरफ़ यज्ञ। मनुष्य जिसे चाहे, चुन ले। यजमान के हृदय से प्रति-क्षण पर-हित की भावना बोल रही है। उस का श्वास-श्वास मानो प्रभु के नाम का जाप है। प्रभु की प्रजा के कल्याण के लिए प्राणों की बोल रही आहुति है। इस यज्ञ का एक दिव्य-नाद है जिसे यजमान का हृदय ही सुन सकता है।

शंखों, दुन्दुभियों, भेरियों की गुंजार में यह नाद गरज रहा था। युद्ध-यात्रा में पग-पग पर इस नाद की गूंज थी। गोलों की गरज के साथ-साथ इस नाद की सुरीली झंकार उठती थी और संग्राम के रुद्र-रस को पवित्र सोम-रस बना जाती थी। मृत्यु का अकाण्ड-ताण्डव अमर-गणों का अलौकिक नृत्य-सा बन रहा था। हज़ारों लाखों मनुष्य मौत के घाट उतर गये परन्तु वैदिक वीर युद्ध-स्थली को मुक्ति ही का घाट समझता रहा। उस की यज्ञ की भावना ने उसे वास्तव में मुक्ति का घाट बना दिया है।

इस यज्ञ की हत्या आर्य वीर के हाथों होनी असंभव है। जिस पवित्र वेदी का निर्माण उस ने अपने दधीचि-देह की पवित्र हड्डियों की बलि दे-दे कर किया है, उस पर वह किसी अपवित्र कूकर को पैर धरने दे—यह कब संभव हो सकता है? यज्ञ की ज्वालाओं में उस का शरीर भुन गया। उस का रोम-रोम झुलस चुका। आज उस का अंग-अंग अमर वीरों की पुण्य स्मृति का एक उज्ज्वल स्तंभ है। यह वह राख है जो लाखों शूरों के, स्वाहा हो चुके

शरीरों का पवित्र यज्ञ-शेष है । इस की निष्पाप वीरता की रक्षा प्राण-पण से करनी है, भुन-भुन कर करनी है, झुलस-झुलस कर करनी है । इस पवित्र राख के निकट लोभ-रूपी कूकर को नहीं आने देना, उस की लटकती जीभ को नहीं आने देना ।

तृतीय सवन

शान्त तरङ्ग

॥ ओ३म् ॥

नवम खण्ड

जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

सूर्य के रथ पर सवार

३ २   ३ १ २   ३ १ २   ३ १ २   ३ २ उ   ३ २ ३ १ २
अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते ।
१   २ र   ३ २ ३ २ उ ३   २ ३ १ २   ३ २
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुहद् विचक्षणः॥१॥

ऋषिः—कविः = क्रान्तदर्शी ।

(यह्वः) महान् आत्मा (चनोहितः) अन्न-रूपी प्रकृति में स्थित हो कर (प्रियाणि नामानि) उन प्यारे नामों, कामों तथा नमस्कारों को (अभि-पवते) सब ओर से पवित्र करता है (येषु अधि वर्धते) जिन का आश्रय ले कर वह बढ़ता है । (विचक्षणः) विश्वदर्शी (बृहतः सूर्यस्य) बड़े सूर्य के (बृहत्) महान् (विष्वञ्चं रथम् अधि) विश्वतोगामी रथ पर (आ-अरुहत्) सवार हो गया है ।

आत्मा प्रकृति से महान् है। परन्तु इस महान् का उत्कर्ष इसी में है कि यह झुके। आत्मा अत्ता है, प्रकृति उस का अन्न है। अत्ता अन्न का आश्रय न ले तो अत्ता क्यों कर बने ? आत्मा के जितने भी नाम और काम हैं, वे सब प्रकृति के आश्रय से ही सिद्ध होते हैं। इस लिए आत्मा अपने उत्कृष्ट आध्यात्मिक पद से नीचे उतरता है, और प्रकृति के साथ संबद्ध हो विविध सांसारिक स्थितियों को स्वीकार करता है। वे स्थितियाँ इस की स्वीकृति-मात्र से पवित्र हो जाती हैं। शरीर ग्रहण कर यह किसी बहिन का भाई बनता है, किसी माता का लाल, किसी पिता का पुत्र, किसी आचार्य का शिष्य। और देखिये ! यह किसी सम्पत्ति का मालिक है, किसी देश का वासी है। ये सब सम्बन्ध आत्मा ही के हैं। इसी से ये पवित्र हैं। जिस नाम तथा काम से आत्मा का सम्बन्ध हो गया है, वह आध्यात्मिक वस्तु है। वृक्ष, पशु, मनुष्य सभी पवित्र हैं क्योंकि ये सब आत्मा के विकास की सीढ़ियाँ हैं। वह उतरा है। उस ने अवतार लिया है। उस ने इन का, और इन्हों ने उस का उद्धार किया है। इसी से ये एक दूसरे के प्यारे हो गये हैं। प्यारे और फिर पवित्र—कैसा अछूता संयोग है।

संसार के सभी नाम और काम जो आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध का परिणाम हैं, वास्तव में आत्मा की शिक्षा के—आध्यात्मिक उन्नति के—साधन हैं। जन्म-जन्मान्तर

के अनुभवों से समृद्ध हो आत्मा विश्व-दर्शी बनता है। यह इस का पितृ-यान था जिसे दूसरे शब्दों में चन्द्र-मार्ग भी कहते हैं। इस मार्ग की ऊंच-नीच का पूरा ज्ञान प्राप्त कर आत्मा देव-यान का यात्री बनता है। इसी को दूसरे शब्दों में सूर्य-मार्ग कहा जाता है। चन्द्र तो फिर-फिरा कर सदैव पृथिवी ही के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहता है। सूर्य की गति अपने स्थान पर स्थिर रहते हुए भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में है। उस का रथ विश्वतोगामी है। यही अवस्था मुक्त आत्मा की भी है। वह अचल है और फिर चलता है। सदेह हो, विदेह हो, वह सूर्य के रथ पर सवार हो चुका है। अन्य कोई रथ विश्व-द्रष्टा की सवारी के योग्य है भी तो नहीं। सूर्य भौतिक ब्रह्माण्ड का केन्द्र है तो वह आध्यात्मिक जगत् का। दोनों ज्योति के पुंज हैं और किरणों के घोड़ों पर सवार हैं। आत्मा सूर्य का भी सूर्य है। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥

जिस के अन्दर आध्यात्मिक सूर्य का उदय हो गया, वह देव है। उस ने अमर पद को पा लिया। अमर संजीवनी—सोम—का वास्तविक पान उसी ने किया है।

कामधेनु

३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३२३२३ १२
अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र स्वानासो बृहद्देवेषु हरयः ।
१२ ३ २ ३२३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विचिदश्नाना इषयो अरातयोऽर्यो नः सन्तु सनिषन्तु नो
१२
धियः ॥ २ ॥

ऋषिः—कविः = क्रान्तदर्शी ।

(इन्दवः) सरसाने वाली ज्योतियाँ (स्वानासः हरयः) संगीत-स्वरूप किरणें बन कर (अचोदसः) बिना प्रेरणा के (नः बृहद्देवेषु) महान् देवताओं द्वारा सुशोभित हमारे यज्ञों में (प्र-धन्वन्तु) खूब गति करें । (नः अर्यः) हमारी शत्रु (अरातयः इषयः) कृपणता-रूप कामनाएँ (चित्) ही (वि-अश्नानाः सन्तु) भोग-रहित रह जायें । (नः धियः सनिषन्तु) हमारी [शुभ] इच्छाएँ सफल हों ।

आज हमें प्रेरणा की आवश्यकता ही कहाँ रही ? युग-युगान्तरों के प्रयत्नों ने प्रभु की कृपा से आज सफलता का मुँह देखा है । हमारी बहिर्मुख प्रवृत्तियाँ आज अन्तर्मुख हो रही हैं । हमें अनुभव हो रहा है कि हमारी संसार-भर की सारी दौड़-धूप अपने ही स्वरूप की उपलब्धि के लिए थी । हम अपने आप को खो चुके थे और उसी की तलाश संसार-भर में कर रहे थे । अनात्मा में आत्मा कहाँ था ? हम जितने अधिक प्रकृति के प्रलोभनों में फँसे, आत्मा से उतने

ही दूर होते गये। पर इस दूरी में भी समीपता थी। संसार का ज्ञान आत्मा का ज्ञान था। ज्ञेय वस्तु के साथ-साथ ज्ञाता का ज्ञान अपने आप होता गया। जन्म-जन्मान्तर का चक्कर निर्वाण की प्राप्ति के लिए था। अँधेरे में ज्योति छिप रही थी। सूखा काठ अन्दर से गीला था। आज हमारी प्रत्येक क्रिया यज्ञ-रूप है। हमारा संपूर्ण शरीर यज्ञ की वेदी हो रहा है। जब से हम ने अपने आप को संपूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ एकीभूत किया है, यह ब्रह्माण्ड का ब्रह्माण्ड एक विशाल यज्ञशाला-सा बन गया है। हमारी इन्द्रियाँ तो देव थीं ही, आज हमें ब्रह्माण्ड का अणु-अणु देव प्रतीत हो रहा है। वह एक महान् आत्मा की ज्योति से ज्योतिर्मय हो रहा है। उस में दान की प्रवृत्ति है, द्युति है। सभी लोक द्युलोक बन रहे हैं। इन द्युलोकों में ज्योति और ज्ञान का एक अपूर्व समाँ-सा बँधा हुआ है। स्वयं किरणें तन्त्री के तार-सी बन रही हैं। हिलती हैं और गाती हैं। एक अपूर्व रस है जिस ने इस अलौकिक लोक को रसमय बना दिया है।

वह कृपणता कहाँ गई? वह जो परोपकार में झिझक की वृत्ति-सी उठती थी, वह अब एक सपना-सा है। महान् देवताओं का इस महती यज्ञ-शाला में स्वार्थ के लिए स्थान ही नहीं है। आलस्य को, प्रमाद को, भोग-लिप्सा को कभी का भोजन ही नहीं मिला। शत्रुता, द्वेष, ईर्ष्या, भूखों मर-मर कर अपने आप विलुप्त हो गई हैं। यह तो मुझे, जैसे किसी पूर्व-जन्म की स्मृतियाँ-सी प्रतीत होती हैं।

यह लोक ही परोपकार का है—अर्थात् यज्ञ का, निष्काम कर्म का। जहाँ प्रमाद का नाम न हो, वहाँ प्रेरणा किस को करें? नदियाँ वह रही हैं, ग्रह-उपग्रह गति कर रहे हैं, वायु दौड़ रही है। अणु-अणु में चेष्टा है। सब अपनी-अपनी नियत सरणी पर आगे जा रहे हैं। यहाँ मनोवृत्ति ही यज्ञ की है, संपूर्ण क्रिया-कलाप यज्ञमय है। इच्छा उठती है और अपना फल अपने साथ लाती है। यहाँ के संकल्पों को पहले से ही सफलता का वर मिल चुका है। संतुष्टि, समृद्धि, सिद्धि इस लोक के स्वभाव में हैं। संकल्प अपनी सिद्धि आप हैं। भलाई अपना प्रतिफल आप है। यहां मांगना और देना पर्याय हैं। प्रार्थना ही स्वयं मुँह-मांगा फल देती है। कर्म अपना फल आप हैं। इच्छा ही स्वयं कामधेनु है।

बछड़ा

३२३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २३ १ २
एष प्रकोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः।
३ २ १ ३ ३ १ २ ३ १ २
अभ्यृतस्य सुदुघा घृतश्चुतो
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वाश्रा अर्षन्ति पयसा च धेनवः ॥३॥

ऋषिः—कविः = क्रान्तदर्शी।

(इन्द्रस्य) आत्मा की (एष वपुषो वपुष्टमः) यह बीज बोने वालों में सब से उत्तम (मधुमान् वज्रः) मधुर बिजली (कोशे) हृदय-कोष में (प्र-अचिक्रदत्) खूब गर्जी है।

(ऋतस्य च) और ऋत की (सुदुघाः) उत्तम दूध देने वाली (घृतश्चुतः) घी टपकाती हुई (वाश्राः धेनवः) रँभा रही गायें (पयसा अभि-अर्षन्ति) दूध सहित चारों ओर से प्राप्त हो रही हैं ।

ब्रह्माण्ड की गोशाला में मैं अपने आप को बछड़ा-सा पाता हूँ । सम्पूर्ण प्रकृति मुझे माता-सी दीख रही है । सब ओर से मानो दूध की नहरें-सी बह रही हैं । मेरे बिना जाने, मेरे रोम-रोम में प्रकृति-माता का दूध प्रवेश कर रहा है, कर रहा है । गायें दौड़-दौड़ कर अपने बछड़ों के मुख में दूध उँडेल रही हैं, उँडेल रही हैं । दौड़ती हुई गौ का रँभा-नाद कैसा सुहावना प्रतीत होता है । इस नाद में ही दूध है—घी है । एक रस है जो बछड़े की आत्मा को तृप्त करता जा रहा है।

गायें जंगल में घूमती रहीं और बछड़े वाड़े में बँधे रहे। परन्तु बँधे हुए बछड़ों में एक बिजली थी। वह उन के हृदयों की आवाज़ में बोल रही थी—गरज रही थी । गैया का हृदय उसे सुन रहा था। औरों को सुनाई न देने वाली यह गरज गाय के शरीर में दूध की खेती उगा रही थी । बछड़े का प्यार न हो तो गौ खाती है, पीती है, चरती है, जुगाली करती है परन्तु उस के स्तनों में दूध नहीं उतरता । दूध बछड़े के प्रेम से ही पैदा होता है। यही प्रेम आत्मा का वह मीठा वज्र है जो विश्व-धेनु की विशाल छातियों में दूध की गंगा बहाता है ।

संसार के इस बाड़ में हमें युगों बीत गयें । प्रकृति-माता का स्तन-पान हम प्रतिक्षण करते थे, परन्तु इस का साक्षात् बोध भूख ही के समय हुआ । हमारा पेट भर गया, हम चुप हो रहे । गैया को भुला दिया । सायं-काल फिर पेट खाली हुआ और हम ने आतुर शब्द में माता को पुकारा । उस के रंभा-नाद और दूध की मीठी-मीठी धारा का खूब ज़ोरों से—खींच-खींच कर, भींच-भींच कर आस्वादन किया । भूख मिटी और फिर वही आमोद-प्रमाद ! माता जैसे थी ही नहीं ।

परन्तु अब तो हृदय की घंटी हर क्षण बज रही है । यह घंटी बज तो पहले भी रही थी परन्तु अज्ञात । अब आत्मा की भूख हर समय वाचाल रहती है । मेरे कान उस पर लग गये हैं । वायु गाय बन कर हर समय मेरी ओर आ रही है । सूर्य की किरणें एक अनन्त गह्ले के रूप म मेरी आँखों को, मेरे हृदय को, मेरे संपूर्ण शरीर को शुभ्र श्वेत दुग्ध पान करा रही हैं । प्रकृति की वह कौन सी शक्ति है जो रँभा-रँभा कर मेरे सहस्र-मुख शरीर में सहस्रधार दूध के सहस्र-मुख स्रोत नहीं वहा रही है । प्रकृति की प्रत्येक चेष्टा में गान है—रंभा-नाद है । मेरे हृदय में उस के लिए उत्सुकता है जो गरज-गरज कर संपूर्ण ब्रह्माण्ड को अपनी ओर बुला रही है ।

मैं ने कर्मों की खेती से पृथिवी को उर्वरा बनाया है । प्रकृति-माता की संपूर्ण विभूति मुझ बछड़े की कर्म-रूप कृषि

का फल है। मेरा प्यार मेरी माता की छातियों को दूध से छलका रहा है। मैं उस से और प्यार करूंगा—अधिक और अधिक कर्म का हल चलाऊँगा जिस से प्रकृति के स्तनों में दूध छलकता रहे और मैं उसे जी भर-भर के पान करता जाऊँ—करता जाऊँ।

क्या इसी तुला में मनुज कर्म ?
तुलते बन-बन नव-कल्प-धर्म ?
है विश्व-तुला का यही मर्म ?
है कल्प कर्म का मूर्त सार ?

सौ रविशों का रास्ता

१ २ ३ २ ३ १ २ ३२उ
ओ अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतᳪं
३ २ ३ २र २र ३ १ २
सखा सख्युर्न प्रमि नाति सङ्गिरम्।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३
मर्य्य इव युवतिभिः समर्षति
१ २ ३ १ २ ३ १ २ २
सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ४ ॥

ऋषिः—ऋषिगणः = ऋषि-समूह।

(इन्दुः) इन्दु (इन्द्रस्य निष्कृतम्) इन्द्र के सजे हुए [घर] पर (प्र-उ-अयासीत्) जा ही पहुँचा। (सखा) मित्र (सख्युः सङ्गिरम्) मित्र की बात को (न प्र-मिनाति) नहीं काटता [उस के राग का स्वर-ताल नहीं बिगाड़ता]।

(कलशे) कलकल ध्वनि कर रहे [विश्व-रूप] कलश में (सोमः) रस का पुतला (शतयामना पथा) सैकड़ों रविशों वाले [जीवन-] पथ से (सम्-अर्षति) ऐसा हिल-मिल गया है (मर्य इव) जैसे ब्रह्मचारी (युवतिभिः) युवतियों के साथ [सम्-अर्षति] हिल-मिल जाता है ।

रस चाहे शान्त हो और चाहे वीर, दोनों आत्मबोध की उपज हैं । दोनों में प्रकाश है, और दोनों में ही सरसता। जिसे इन में से किसी का भी अनुभव हो गया, उस की आँखों में एक नशा-सा समा जाता है जो एक अनुपम तेज—एक अद्भुत प्रकार की तरावट—लाता है । यह रस इन्दु है—चमकने वाला और सरसाने वाला । जिस आत्मा ने इस रस के साथ अपने आप को एकीभूत कर लिया, वह भी इन्दु है—मूर्त्त सोम । आत्मा का तो लक्षण ही ज्ञान और आनन्द है—प्रकाश और रस । व्यक्ति में यह प्रकाश-युक्त रस एक चमक रही बूँद के या एक सरस चिनगारी के रूप में विद्यमान है, विश्व में सागर है, अग्नि है । विश्व इन्द्र का घर है—खूब सुसज्जित, सुसंस्कृत घर । जहाँ आत्मा की दृष्टि अपने इस ज्योतिर्मय सरस स्वरूप पर पड़ी, वह समझ गया कि विश्व का आत्मा और वह कोई दो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ नहीं है । यह अल्प है, वह महान् । यह अणु है, वह विभु । दोनों में रस है और दोनों में प्रकाश । ख्याति दोनों की एक है । दोनों सखा-रूप हैं । इन्द्र की संगीत-शाला में स्वर और ताल का—एकतानता का—प्राधान्य है । निष्पत्ति,

सुसंगति, अनुपात विश्व की प्रत्येक चेष्टा में हैं। इन्दु इन्द्र के संगीत में खटराग पैदा नहीं करता। उस की स्वर-लहरियों में एक स्वर-सा बन जाता है। संसार के कलश में जहाँ मीठे-मीठे राग सर्वत्र कलकल ध्वनि कर रहे हैं, यह सोम-रस का पुतला बहता है, उमड़ता है, गुनगुनाता है, गाता है। चतुर गवैये के स्वर-ताल के साथ अपना स्वर-ताल मिला कर उस की सहस्र-छिद्र वंशी में से उस के अपने श्वास ही के रूप में वह निकलता है। संसार में रस के उद्रेक के सैकड़ों प्रकार हैं। प्रभु की भक्ति में, दीनों की रक्षा में, देश की सेवा में, गुरुजनों के चरण-वन्दन में, कला में, कौशल में—किसी उपजाऊ धंधे में जो यज्ञ की भावना से किया जाय, आनन्द ही आनन्द है।

युवती पवित्रता की पुतली है। कुमारी कन्या अपने अन्दर एक आभा रखती है, जिस के दर्शन-मात्र से पाप का क्षय होता है। ऋषि के शब्दों में वह मातृ-शक्ति है जिस की कोख से हम तुम पैदा होते हैं। ब्रह्मचारी युवतियों के साथ मिल-जुल कर सुवर्ण से कुंदन हो जाता है। रजपूत के लिए संसार-भर की युवतियाँ बहिनें हैं। उस ने उन की राखी अपनी वीरता-पूर्ण भुजा पर सजा रखी है। प्रभु-भक्त के लिए वे जगज्जननी के विविध रूप हैं। वह उन का शिशु है।

विश्व के मंच पर खेल रही असंख्य शक्तियाँ सब अपने यौवन पर हैं। इन में रूप है, स्फूर्ति है, विकास है। ये नृत्य तथा गान की मूर्त्तियाँ प्रभु के परिवार की युवतियाँ

हो रहा है। मनुष्य उस की नक़ल उतारता है। वहाँ सोम-रस की नदियाँ बह रही हैं, सागर उमड़ रहे हैं। यहाँ एक बिन्दु ही, पीने वाले को स्वयं इन्द्र बना देता है। मनुष्य की मस्ती द्युलोक की मस्ती की एक छाया-मात्र है। साधारण जनों को उस ज्योतिर्मय इन्द्रपुरी की कभी-कभी झाँकी-सी मिल जाती है। और जिसे इन्द्र के साक्षात् दर्शन हो गये, जिस का आध्यात्मिक झरोखा खुल गया, उस के तो फिर कहने ही क्या हैं? वह तो स्वयं देव है। "इन्द्रस्य युज्यः सखा"—इन्द्र का अनुरूप मित्र।

हमारी नाड़ियों में रक्त बह रहा है। हमारी शारीरिक शक्ति उसी रक्त ही की शक्ति है। वैज्ञानिक कहता है—उसी से हम में शूरता, वीरता, आत्माभिमान—सभी सद्-भावनाएँ विद्यमान हैं। परन्तु वह आध्यात्मिक रस जो प्रभु की कृपा का फल है, इन नाड़ियों के बल से कहीं अधिक बलवान् है। भावना प्रबल हुई और इन नाड़ियों में जोश आ गया। जैसे बाढ़ के दिनों में नदियाँ भर-भर कर बहती हैं, ऐसे ही भावावेश की अवस्था में नाड़ियाँ। वैज्ञानिकों का कहना है कि नदियों का बल जल की बहुतायत का फल है। नदी जल की शक्ति का संग्रह कर उस का एक-दम प्रकाश कर देती है। ऐसे ही नाड़ियाँ रुधिर की शक्ति का संचय कर जीवन की संपूर्ण प्रक्रियाओं में उसे प्रकट करती रहती हैं। इस के विपरीत प्रभु की कृपा का चित-चोर रस नई सृष्टि करता है। उस के द्वारा ऐसे कर्म संपादित हो जाते

हैं जिन का सपना लेना भी उस के बिना असंभव प्रतीत होता था। प्रभु का भक्त अपने शरीर की शक्ति से कहीं बढ़ कर शारीरिक शक्ति के करिश्मे दिखाता है। वह, वह कर गुज़रता है जो साधारण जन नहीं कर सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि उस की आध्यात्मिक अनुभूति ने उस के नाड़ी-जाल को पीछे छोड़ दिया है। इतनी निर्भयता, इतना उत्साह, इतना साहस उस के निर्बल शरीर में कहाँ था? प्रभु ने मानो उसे अपना बल प्रदान कर रक्खा है। उस की आत्मा की नौका संसार-सागर की तरंगों को पीछे छोड़ रही है। शक्ति-शाली खेवट की भुजाएँ सागर की लहरों से कहीं आगे निकल जाती हैं। नौका लहरों के बल पर नहीं, उन भुजाओं के बल पर तैर रही है। यात्री स्वयं चकित है—इस काठ की नौका में यह बल कहाँ से आया? बल बल वाले का है। शक्ति सब उस "हरि" की है जिस ने घमंडियों का घमंड हर लिया, प्रेमियों के प्रेम-पूर्ण चित हर लिये, आँखों के सम्मुख आया तो उन की देखने की शक्ति हर ली, कानों के निकट पहुँचा तो उन का सुनने का सामर्थ्य हर लिया। नेत्रों को देखने के, श्रोत्रों को श्रवण के योग्य बना भी दिया परन्तु परम दृश्य उन के दर्शन से परे रखा, परम शब्द उन के श्रवण से ऊंचा उठा दिया। दिखाया सही पर कुछ न दिखाया। सुनाया सही पर कुछ न सुनाया। उस परम ज्ञेय के ज्ञान में इन्द्रियों की ज्ञातृ-शक्ति बेकार है। उस का देखना यही है कि वह नहीं देखा जाता। वह अदृश्य दृश्य!

वह अश्रव्य श्रव्य ! आँखों में है और आँखों से दूर। कानों के बीच में है और फिर कानों से परे। नदियों में वह रहा है और नदियों के प्रवाह उसे पा नहीं सकते। चित-चोर भगौड़ा हाथ लगा-लगा कर भाग जाता है। छूता है, छूने देता नहीं।

इन्द्र के हृदय में

१२ ३१ २ ३२उ ३ १ २ ३ १र २र३ २
वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोपसां दिवः।
३ १र २र ३ १ २ ३
प्राणा सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रद-
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिन्द्रस्य हार्द्याविशन्मनीषिभिः ॥ ६॥

ऋषिः—कविः = क्रान्तदर्शी।

(उषसां, अह्नां, दिवः) उषाओं का, दिनों का, द्युलोक का, (प्रतरीता) बढ़ाने वाला (मतीनां वृषा) सद्बुद्धियों की वृष्टि करने वाला (सोमः) रस-रूप (विचक्षणः) आत्म-दर्शी (पवते) पवित्रता का प्रवाह ला रहा है। (सिन्धूनां प्राणा) नदियों का जिलाने वाला (मनीषिभिः) मन का संयम कर (इन्द्रस्य हार्दि कलशान् [इव] आ-विशन्) इन्द्र के हृदय को कलशों की तरह आविष्ट कर-कर (अचिक्रदत्) गरजने लगा है।

आत्म-दर्शी ने एक नया रस-पूर्ण संसार पाया है। उस की अन्तर्मुख दृष्टि ने विश्वामित्र की तरह एक नई सृष्टि की

है। उस की उषाओं में एक नई उषा की वृद्धि हुई है। उस के दिनों में एक नये आध्यात्मिक दिन का उदय हुआ है। उस ने एक नये द्युलोक का आविष्कार किया है जो इस भौतिक द्युलोक से कई गुणा अधिक प्रकाश-युक्त है। सच तो यह है कि उस उषा के उदय से, उस नये दिन के प्रादुर्भाव से, ये भौतिक उषाएँ, ये सामान्य दिन अधिक आलोकित हो उठे हैं। द्युलोक में पहिले, जैसे ज्योति थी ही नहीं। आन्तरिक चक्षु की एक दृष्टि से सभी ग्रह-उपग्रह चमचमा उठे हैं। अब इन में एक विशेष रस की आभा है। इन पर एक विशेष दृष्टि—विशेष मति—बरस गई है। इन पर और इन के सम्पूर्ण निवासियों पर एक पवित्रता का प्रवाह बह गया है।

प्रवाह पूर्व भी थे। भावनाओं की गंगाएँ सब ओर बह रही थीं, पर उन में जान न थी। आज वायु का थपेड़ा किसी वायु वाले का थपेड़ा है। नदियों की तरंगें किसी तरंगित हृदय की तरंगें हैं। अणु-अणु में विभु बोलता है। अल्प में महान् की झाँकी है।

संसार पहिले प्रलोभन का कारण था, अब पूजा का स्थान है। पहिले भोग की स्थली थी, अब योग की। पहिले विषयों पर गिरे जाते थे अब उन के द्वारा उठे जाते हैं। पहिले जो पदार्थ मनोहारी थे, अब मनीषी हैं। सौन्दर्य प्रभु का है, स्वाद स्वाद वाले का। गन्ध सभी उस परम गन्धी के हैं। यह विचार आया नहीं और रोमांच हुआ

नहीं। हृदय क्या है? सद्भावनाओं के सोम का कलश। कलश भर रहा है, उमड़ रहा है, छलक रहा है। एक नहीं, अनेक कलश हैं। इन्द्रिय-इन्द्रिय अंग-अंग, नाड़ी-नाड़ी, रोम-रोम, कलश बन रहा है। प्रभु के प्रेमागार में विहार कर—पवित्र विहार कर। मनीषियों का सा विहार कर। तेरा हृदय इन्द्र का हृदय है—इन्द्रियों के राजा इन्द्र का। इन्द्र के हृदय में इन्दु गरज रहा है। सुन, उस के वीर-नाद को सुन। अपने भक्ति-रस के सरस संदेश को सुन। अपने वीर-भाव के विमल आदेश को सुन।

चौमंज़िला

१२ ३२ ३१२ ३२ ३१२ ३१ २
त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि।
३२३ २र ३२३ १२ ३ २३१र२र
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥७॥

ऋषिः—रेणुः = स्तोता।

(सप्त धेनवः) सात दुधेल-गायें [तो पहिले ही] (त्रिः) तीन-तीन बार (अस्मै) इस (परमे व्योमनि) विस्तृत अन्तरिक्ष में का (सत्यां आशिरम्) सत्य-रूप दूध (दुदुह्रिरे) दे रही थीं। (यत् ऋतैः अवर्धत) जब इस के ज्ञान में ऋत की वृद्धि हुई तो इस ने (निर्णिजे) इस दूध के परिष्कार के लिए (अन्या चत्वारि भुवनानि चक्रे) अन्य चार भुवन बना लिये—मंज़िलें बना लीं।

यह विस्तृत विश्व इन्द्रिय-रूपी गायों की चरने की स्थली है। इस विशाल क्षेत्र के तृण-तृण में दूध छलक रहा है। इन्द्रियाँ इन तिनकों को खाती हैं, पचाती हैं और आत्मा के मुख में ज्ञान-रूपी दूध का सोता बहाती हैं। सात गायें—दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ, एक मुख—हर समय इस खेत में चर रही हैं और जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीन समयों में मनुष्य के मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न प्रकार की ज्ञान-गङ्गा बहा रही है। जागृति और स्वप्न में प्रत्यक्ष चिति (Conscious self) काम करती है तो सुषुप्ति में परोक्ष चिति (Subconscious self)।

दूध का यह झरना हर समय झर रहा था। पर इस से आत्मा की सन्तुष्टि नहीं थी। सत्य में प्रकाश था पर सूखा। ऐन्द्रिय ज्ञान बाहर की वस्तु थी। तर्कणा की कैंची कतर-कतर कर इस के टुकड़े-टुकड़े कर देती थी। इस की अपनी कोई शकल सूरत नहीं थी।

जब से अंदर की आँख खुली है, सत्य में ऋत की वृद्धि हो गई है। ऐन्द्रिय ज्ञान पर एक आध्यात्मिक आलोक-सा आ गया है। चतुष्पाद ओम् के ध्यान से मानो उस ज्ञान के परिष्कार की चार मंज़िलें-सी निर्मित हो गई हैं। जागृति अब भी जागृति है परन्तु वह पहिले की सी जागृति नहीं। इस जागृति में आध्यात्मिक छटा है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष आध्यात्मिक प्रकाश द्वारा आलोकित है। इस में एक अलौकिक ज्योति है। यही अवस्था स्वप्न और सुषुप्ति की है।

दूध छन गया है। स्वयं इन्द्रियों के अनुभव में अव अधिक पवित्रता है, एक अद्भुत रस है, एक विचित्र आभा है। इन तीन मंज़िलों से आगे एक चौथी मंज़िल अपाद प्रभु की है—अमात्र अक्षर की। वह ला-मकान का मकान है। उस स्थिति का माप नहीं, तोल नहीं। वह असंप्रज्ञात अवस्था है। चतुष्पाद का चौथा पाद अपाद है। उस अमूर्त्त शब्द का उच्चारण नहीं हो सकता। वह स्थिति वाणी तो क्या? कल्पना का भी विषय नहीं बनाई जा सकती। अध्यात्म की इन चार चलनियों में से छन-छन कर सत्य ऋत हो जाता है। वही वास्तविक ज्ञान है। उसे प्राप्त कर आत्मा अमर-पद को प्राप्त हो जाता है। यही सन्त की ऋतम्भरा बुद्धि है। संत इसी चौमंज़िले में रहता है।

———

सन्तों का धन

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
इन्द्राय सोम सुषुतः परिस्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह ।
३ १ २ ३ २ ३
मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो
१ २ ३ २ ३ १ २
द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥८॥

ऋषिः—वेनः = कमनीय।

(सोम) ऐ अमर जीवन के रस! (इन्द्राय सुषुतः) तेरा सुहावना जन्म इन्द्रियों के राजा के लिए हुआ है सो तू

(इन्द्राय परिस्रव) इन्द्रियों के राजा के चारों ओर बह निकल। (अमीवा) रोग (रक्षसा सह) बलात्कारी के साथ (अप-भवतु) दूर हो जाय। (ते रसस्य) तेरे रस का (द्वयाविनः) दु-मुँहें लोग (मा मत्सत) आनन्द न ले सकें। (इन्दवः) रसिक जन (इह) इस संसार में (द्रविणस्वन्तः सन्तु) ऋद्धि-सिद्धि को प्राप्त हों।

जीवन मृत्यु के पंजे से जभी छूटता है जब इस में संयम का बल हो। वास्तविक जीवन ब्रह्मचारी ही का है। सोम के संचय का भौतिक रूप वीर्य-रक्षा है। इन्द्रियों को वश में कर लेना आध्यात्मिक सोम का पान करना है। संयम में एक आनन्द है जो संयमी के चारों ओर मस्ती का प्रवाह-सा चलाय रहता है। ब्रह्मचारी के अंग-अंग में ब्रह्मचर्य की आभा चमकती है जो आधि को, व्याधि को पास नहीं फटकने देती है। सब से बड़े राक्षस काम क्रोध आदि हैं। इन का जीतना देव-पुरी का जीतना है। सोम के नाम से ये राक्षस डरते हैं। जहां मस्ती आई, इन्द्रिय-विजय के मद से सिर झूमा, ये षड्रिपु रफ़ू चक्कर हुए।

सोम की मस्ती पवित्र हृदय ही के लिए है। "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।" भर्तृहरि ने महात्माओं का लक्षण यही किया है कि उन के मन, वाणी तथा कर्म में एक ही बात रहती है। जो सोचते हैं सो कहते हैं, जो कहते हैं सो करते हैं। दो-मुँहे लोग इस के विपरीत हैं। उन के अंदर कुछ होता है, बाहर कुछ। ऐसे लोगों के लिए

अध्यात्म का मार्ग निरुद्ध है। "आर्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः।" द्विविधा में पड़े लोगों की एक दृष्टि माया पर रहती है, दूसरी राम पर, और मिलती इन में से एक वस्तु भी नहीं। सोम-रस का पान उन के लिए है ही कहाँ ?

और जिन्हों ने सोम-पान ही को अपना एक-मात्र धंधा बना लिया है, जिन का क्षण-क्षण यज्ञ के अर्पण है, वे सब से अधिक समृद्ध हैं। उन्हें वह सम्पत्ति मिली है जिस से बढ़ कर और सम्पत्ति है ही नहीं। पर-लोक में तो उन की चांदी है ही, इस संसार में भी उन के पौबारा हैं। जिस अबला को स्वयं "लाल" मिल गया, उसे दूसरे गहनों की, वस्त्रों की, किसी भी प्रकार के अन्य वैभव की क्या आवश्यकता है ? प्रभु-प्रेम से बढ़ कर और वैभव है भी क्या ? इन्दु चाँद है। चन्द्र धन-धान्य का, सोने-चांदी का दूसरा नाम है। आध्यात्मिक चन्द्र की एक झलक से लोगों के हृदय माला-माल हो गये हैं। भक्त धन वाले को चाहता है, धन को नहीं। धन तो धन वाले का अंश ही है।

बाज़ घोंसले में

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३
असावि सोमो अरुषो वृषा हरी
१ २ ३ ३ २ ३ १र २र
राजेव दस्मो अभिगा अचिक्रदत् ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २
पुनानो वारमत्येष्यव्ययं
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत् ॥६॥

ऋषिः—भारद्वाजः = उपदेशक ।

(हरिः) चित-चोर (अरुषः) चमकीला (सोमः) संजीवन-तत्त्व (वृषा) तेज बरसाता हुआ (असावि) प्रकट हुआ है । (राजा इव दस्मः) वह राजा की तरह दर्शनीय है । (गाः अभि अचिक्रदत्) प्रजाओं को चारों ओर से पुकार रहा है । (पुनानः) पवित्रता के प्रवाह में [ऐ सोम !] तू (अव्ययं वारम्) विकार-रहित रोमांच की चलनी से छन कर (अति-एषि) बाहर आता है । ऐसा प्रतीत होता है (श्येनः न) जैसे बाज़ (घृतवन्तम्) स्नेह-संपन्न (योनिम् आसदत्) घोंसले में आ जाय ।

दिन के उदय होते ही एक अत्यन्त मनोहर अरुणाई चारों ओर छा रही है । वृक्षों के हरे-हरे पत्ते लाल-लाल आभा से घिर रहे हैं । पानी के तल पर एक चमकीली लाल चादर-सी बिछ रही है । आकाश में बदलियाँ मँडरा रही हैं । कोई श्वेत है कोई श्याम, परन्तु प्रत्येक ने एक हलका-

सा गुलावी आँचल ओढ़ लिया है। छहों दिशाओं में छिपा-छिपा कोई लालिमा-प्रिय प्रियतम हलकी-हलकी झाँकी दे रहा है।

कौन ऐसा भावुक हृदय है जिसे इन हलकी झाँकियों ने मुग्ध न कर लिया हो? ऊपर नीचे तेज वरस रहा है—दिलों को हरने वाला तेज वरस रहा है।

यह तेज सृष्टि के राजा सोम का है। उषा की गोदी में सूर्य ने जन्म लिया। उस का अरुण वर्ण दिग्दिगन्त में प्रतिभासित हुआ। देखना! शिशु-सूर्य वाचाल हो वोल रहा है, गरज रहा है। किरणों को संवोधन कर कोई दिव्य आदेश दे रहा है। इस पुण्य प्रभात में उद्‌बुद्ध हुई प्रजाओं को प्रकाश के राजा का यह स्नेह-पूर्ण सन्देश है—योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। प्रभु अपनी रस-पूर्ण प्रकाश की भाषा में कह रहे हैं—सूर्य का आत्मा मैं हूँ। चारों ओर छा रही इस लालिमा का "लाल" मैं हूँ।

उषा की गोदी में वाल-भानु को प्रकाश की वोली वोलते देख किसे रोमांच नहीं हो आता? एक मनुष्य क्या? सारी सृष्टि रोमांचित हो रही है। वृक्ष-वृक्ष के, पौधे-पौधे के, तिनके-तिनके के वाल खड़े हो रहे हैं। एक प्रेम का, पवित्रता का अगाध प्रवाह है जो सारे जगत् में वह रहा है।

संसार नागरिक बन रहा है। इस में सहयोग है, स्नेह है। प्राकृतिक शक्तियाँ उद्दण्ड हैं, अदम्य हैं। वे एक दूसरे

से लड़ क्यों नहीं पड़तीं ? आपस में लड़-लड़ा कर विनष्ट क्यों नहीं हो जातीं? यह तारा-मण्डल,यह सूर्य,यह ग्रह-उपग्रह किस सुन्दरता से इस इन्द्र के घर को सजाए हुए हैं ? किस अचूक व्यवस्था से ये एक दूसरे के पीछे चल रहे हैं ? इन्हें व्यूह-रचना का यह अद्भुत नियम किस ने सिखाया है ? हवाएँ चलती हैं, नहरें वहती हैं। किरणें तीर बन-बन कर प्रहार करती हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि ये अभी संसार का विनाश कर देंगी। पर इन की संयुक्त क्रियाओं से खेती उग आती है, वृक्ष सिर उठा कर खड़े हो जाते हैं, संसार में हरियाली ही हरियाली छा जाती है। जंगल में मंगल हो जाता है। जो शक्तियाँ देखने से हिंस्र पशु-सी प्रतीत होती थीं, वे अत्यन्त सभ्य हैं। उन्हीं के द्वारा संसार में स्वास्थ्य है, सब प्रकार का सुख है, सुभीता है। सारा जगत् एक अपूर्व ज्योति से जगमगा रहा है। बाज़ घोंसले में आ गये हैं—स्नेह-पूर्ण घोंसले में। बघियाड़ घरेलू जानवर बन रहे हैं। उन्हें वकरियों से प्यार है। शेर बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।

यह किस राजा के अटूट न्याय-नियम की करामात है ? उसी "दर्शनीय" प्रभु की जो आदित्य के मुख से प्रातः काल की लालिमा में बोल रहा था। उसी का दिव्य आदेश इस चित-चोर अरुणाई के रूप में छहों दिशाओं को चुपके-चुपके व्याप्त कर रहा है। बाज़ों को चिड़ियों का रक्षक उसी आदेश ने बनाया है। प्रकृति की उच्छृङ्खल शक्तियों के पैर में शृङ्खलाएँ

उसी ने पहनाई हैं। जंगल उसी के स्नेह-रस से मंगलमय गृह बन रहे हैं। विश्व की विशाल बस्ती उसी अरुण-वर्ण सोम का परिवार है—किरणों के मुख से बोल रहे स्रष्टा का घर-बार है।

गो-लोक

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आ न धेनवः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
बर्हिषदो वचनवन्त ऊधभिः परिस्रुतमुस्रिया निर्णिजं धिरे॥१०॥

ऋषिः—वत्सप्रीः = बच्चों से प्यार करने वाला।

(मधुमन्त इन्दवः) मीठी सरस ज्योतियों ने (देवम् अच्छ) देवों के देव आत्मा की ओर (प्र-असिष्यदन्त) इस प्रकार रस झरा (धेनवः गाव आ न) जैसे दूध देने वाली गायें [बछड़े के मुँह में दूध झरती हैं]। (बर्हिषदः) हरी-भरी यज्ञ-वेदी पर बैठी हुई (उस्रियाः) किरणें (वचनवन्तः) रँभा-रँभा कर (ऊधभिः) अपने स्तनों से (परिस्रुतं निर्णिजम्) छलक रहा परिष्कृत दूध (धिरे) प्रस्तुत करती हैं।

आत्मा को ऋत का ज्ञान क्या हुआ? उस के सम्मुख एक ज्योतिर्मय लोक आ गया। उसे सब ओर से ज्योतियाँ ही ज्योतियाँ घेर रही हैं—रस-भरी आर्द्र ज्योतियाँ। आध्यात्मिक सूर्य की किरणें क्या हैं? सभी दुधेल गायें हैं। वेद ने किरण का नाम गौ क्या इसी लिए रखा था? ज्योतियाँ

यज्ञ कर रही हैं। अपना रस यज्ञ की वेदी पर उँडेल रही हैं। संसार की हरियाली इन्हीं यज्ञिय किरणों का रस है। हरियाली में अरुणाई है, स्वर्ण-वर्ण की ज्योति है। वह चमक-चमक कर दर्शकों के हृदय को हर रही है। आत्म-दर्शी के लिए यह दूध की गंगा है। हृदय का मुख जहाँ खुला, दो घूंट भर लिये। गायों के थनों में दूध छलक रहा है। ऋतंभरा प्रज्ञा की चलनी में पड़ कर वह छन जाता है, परिष्कृत हो जाता है। इस परिष्कृत दूध को पीने के लिए दिव्य मुख चाहिये। यह दूध मरुतों—प्राणों—को नहीं, मरुत्वान् इन्द्र ही को मिलता है। जिस ने अपने प्राणों पर, इन्द्रियों पर अधिकार जमा लिया, वह इन्द्र है। सोम का सरोवर उसी के लिए है। इन्द्रिय-विजय भूखा रहने से नहीं, भोगों को त्याग देने से नहीं, संसार से विरक्त हो जाने से नहीं, आत्मा के प्रकाश ही से होती है। अनशन से शरीर सूख जायगा, न खाने पीने से इन्द्रियाँ निर्बल हो जायेंगी। भौतिक भोगों के भोगने की शक्ति शिथिल हो जायगी। परन्तु विषयों की तृष्णा बनी रहेगी। भोग-लिप्सा अधिक तीव्र हो जायगी। अंदर की प्यास तो जभी बुझती है जब आत्मा के दर्शन हो जायें। आध्यात्मिक स्वर्ग की सरस ज्योतियाँ ही अन्तःकरण की प्यास को बुझा सकती हैं। जहाँ भोग की अधिकता से कामना की आग प्रचण्ड होती है, वहाँ भोग के अभाव में भी भोगों की भूख चमक उठती है। इस भूख का उपाय है आत्म-दर्शन। सोम-रस

का सवन और आस्वादन। आत्मा की भूख स्वयं खाने से नहीं, भोग-मात्र से विरत हो जाने से नहीं, भोग को यज्ञ की आग में आहुत कर देने ही से शान्त होती है। धन फेंक नहीं, बांट दे। अन्न छोड़ नहीं, खिला दे। सभी जीव-जन्तुओं में आत्मा के दर्शन कर। प्राणी-मात्र को अपना सखा समझ। दूसरे के पेट में अपनी भूख के दर्शन कर। यही सोम-रस का सवन है, यही आध्यात्मिक ज्योति का दर्शन है। यही मोक्ष है, यही ब्रह्मलोक है, यही वैदिक व्रज—यज्ञ, याग की भूमि, सच्चा गो-लोक है।

दूध का धुला

१२३क २र ३ १२ ३ १२ ३ २ ३क २र
अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुꣳरिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते।
१ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणꣳ
३ २ ३ २ ३ १ २
हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते ॥११॥

ऋषिः—अत्रिः = त्रिगुणातीत।

[गायें बछड़े को] (रिहन्ति) चूमती हैं, चाटती हैं। (मध्वा) जीभ के मिठास से (अञ्जते) उसे लेपती हैं, पोतती हैं। (वि-अञ्जते) तरह-तरह से पोतती हैं, (सम-अञ्जते) खूब पोतती हैं, (अभि-अञ्जते) चारों ओर से पोतती हैं। (हिरण्यपावाः) कुन्दन की तरह पवित्र करने वाली गायें (सिन्धोः उच्छ्वासे) आर्द्रता की बाढ़ में (अप्सु पशुं

पतयन्तम्) तरंगों के बीच में अपनी सुध-बुध खो रहे (उक्षणम्) भक्ति-भाव में भीजे हुए धर्म-मेघ रूप बछड़े को (गृभ्णन्ति) सँभाल लेती हैं।

ब्रह्मलोक—वेद के शब्दों में इस गोलोक—की प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य भक्ति-भाव में भीज जाता है। व्यावहारिक संसार की सुध-बुध जाती रहती है। नाड़ी-नाड़ी में प्रेम का उच्छ्वास उठता है। प्रभु-प्रेम की एक बाढ़-सी आ जाती है। मनुष्य अपने ऐन्द्रिय ज्ञान को इस बाढ़ में छोड़ देता है। यह ऐन्द्रिय ज्ञान तो पाशविक ज्योति है। इन्द्रियाँ पशुओं में भी हैं। मनुष्य का उत्कर्ष उस की आत्मानुभूति के कारण है। यह तुरीय अवस्था मनुष्य ही को प्राप्त होती है। पशुओं के हिस्से में जागृति भी है, स्वप्न (स्मृति) भी, सुषुप्ति भी। समाधि मनुष्य के लिए विशेष है।

सन्त का चित्त ज्यों ही समाधिस्थ हुआ, वह झट आन्तरिक ज्योतियों का बछड़ा बन गया। वे ज्योतियाँ गायें बन कर उसे चूमती, चाटती, प्रेम की आँच दे कर सोने से कुन्दन बना देती हैं। उन की प्यार की जीभ से परिष्कृत हो कर आत्मा निर्लेप हो जाता है। उस पर सांसारिक भावनाओं का लेश-मात्र भी संस्कार नहीं रहता। वह लिप जाता है, पुत जाता है। खूब लिप-पुत जाता है। वह लेप माताओं के प्रेममय दूध का होता है। दूध का धुला आत्मा—जगज्जननी के अपने हाथों से, उस के स्तनों के

दूध से धुला हुआ—विशेष पवित्रता, विशेष निर्लेपता अनुभव करता है।

प्रयत्न बाहर के विक्षेपों के ही हटाने में करना पड़ता है। ये विक्षेप ज्यों ही हटे, वे ज्योतियाँ झट अपने बछड़े को सँभाल लेती हैं। उसे झट अभिषिक्त करने लगती हैं। अपने वात्सल्य के दूध में धो-धो कर साफ़ कर देती हैं।

ब्रह्म-पुत्र

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १र २ ३ १र २र
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥१२॥

ऋषिः—पवित्रः = पवित्र।

(**ब्रह्मणस्पते**) हे ब्रह्माण्ड के पति! वेद-रूप ब्रह्म के पति! ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण के पति! (**ते पवित्रं विततम्**) तेरी संजीवन-शक्ति की पवित्र चलनी सब ओर फैल रही है। (**प्रभुः**) तू प्रभु है—प्रभावशाली स्वामी है। (**गात्राणि विश्वतः परि-एषि**) [हमारे] अंग-अंग को तू ने सब ओर से घेर रखा है। (**अतप्ततनूः**) जिस ने शरीर को तपाया नहीं वह (**आमः**) कच्चा मनुष्य (**तत् न अश्नुते**) तेरे इस पवित्र संजीवन को प्राप्त नहीं करता। (**शृतासः इत्**) तपस्या की आग में पके हुए मनुष्यों ने ही (**वहन्तः**) यज्ञ करते-करते (**तत् समाशत**) तेरी उस संजीवनी का खूब उपभोग किया है।

प्रभो ! तुम पवित्र हो, पावन हो । तुम्हारी शक्ति पवित्र है, पावन है । उसी शक्ति से संसार में गति है, सभी लोकों में क्रिया है, चेष्टा है । तुम्हारी शक्ति विश्व-व्यापिनी है । तुम्हारे सर्वाधार हाथ जगत् के सभी पिण्डों को उठाये हुए हैं, सँभाले हुए हैं । कोई छोटी से छोटी क्रिया भी तो तुम्हारे पावन सामर्थ्य के विना नहीं होती । फिर क्या कारण है कि जगत् में अपवित्रता है ? तुम प्रभाव-शाली प्रभु हो। हमारे सभी अंगों को घेर रहे हो। आँख, कान, नाक, मुख, जीभ—सभी के आगे पीछे तुम हो। हमारे अन्नमय कोष से ले कर आनन्दमय कोष तक तुम्हारा पवित्र सामर्थ्य हमें सदैव घेरे रहता है । सच तो यह है कि इस विशाल ब्रह्माण्ड की—और इस में पड़े इस के छोटे से अंश हमारे स्वल्प शरीर की—कोई छोटी से छोटी क्रिया भी ऐसी नहीं जिस को तुम्हारे पवित्र हाथों से सहारा न मिलता हो । हम तुम्हारे हाथों के सहारे को तो पाते हैं । तुम्हारी शक्ति से तो अपने शरीर की सभी क्रियाएँ चलाते है। परन्तु उस हाथ की पवित्रता को, उस शक्ति की शुभ्र स्वच्छता को अनुभव नहीं करते। क्या हमारा पात्र कच्चा है, इस लिए उस में यह पावन रस रुकता नहीं, ठहरता नहीं ? टपक जाता है, रिस जाता है । हमारे शरीर तपे नहीं, पके नहीं । भोग-विलास ने हमें कोमल-सा, कच्चा घड़ा-सा बना रखा है । हम मोम हैं, ज़रा-सी आंच लगने से पिघल जाते हैं । तुम्हारे पावन—यज्ञाग्नि में पकाये गये—सोम-रस का आस्वादन करने के

लिए पत्थर के ओंठ चाहिये, फौलाद का सा दिल चाहिये। तो प्रभो ! हमें पकाओ। तुम यज्ञ-स्वरूप हो। हमें यज्ञ की आग में पकाओ। हमारे अन्नमय कोष को शारीरिक तप से, प्राणमय कोष को प्राणायाम से, मनोमय कोष को मानसिक तप से, विज्ञानमय कोष को ज्ञानाग्नि से तपाओ, पकाओ। फिर आनन्दमय कोष तो है ही निरा यज्ञ। जिन का वह कोष खुल गया, वह तो सोम-रस के स्रोत ही में जा पड़े। आनन्दमय कोष ही प्रभु के पवित्र सोम का स्रोत है। वह मूर्त्त यज्ञ है। वहीं सोम का सवन होता है और वहीं उस का परिपाक। प्रभु का भक्त इसी यज्ञ की आग में पकता है। पकता है और प्रभु के परिष्कृत रस का पान करता है। परिपाक स्वयं एक रस है। अत्यन्त पवित्र रस ! परिपाक ही तो परिष्कार है।

प्रभो ! ब्रह्माण्ड तुम्हारा, वेद-वाणी तुम्हारी, वेद के जानने वाले ब्राह्मण तुम्हारे, फिर भी ब्रह्माण्ड में अपवित्रता के लिए स्थान रहे—आश्चर्य है। क्षण-क्षण यज्ञ कर रहे प्रभो ! हमें भी अपने यज्ञ का एक भाग बना दो। ब्राह्मण ब्रह्म अर्थात् यज्ञ का पुत्र होता है। हमें ब्राह्मण बना दो। हम यही तो कहते हैं—अपने पुत्रों को अपने वास्तविक पुत्र बना दो। हम ब्राह्मण न हुए तो तुम ब्रह्मणस्पति कैसे होगे ? अपने ब्रह्मणस्पतित्व की लाज ! हमें ब्राह्मण बना दो।

दशम खण्ड

उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

चित-चोर चमत्कार

२ ३१ २ ३२ ३१र २र ३ १ २
इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः॥ १॥

ऋषि:—अग्निः = अग्रणी।

(इमे) ये (श्रुष्टे जातासः) अकस्मात् प्रादुर्भूत हुई (स्वर्विदः) आनन्द-प्रद (इन्दवः) सरस ज्योतियाँ, (इमे) ये (हरयः सुताः) चित-चोर संजीवनियाँ (वृषणं इन्द्रम्) धर्म-मेघ इन्द्र को (यन्तु) प्राप्त हों।

प्रभु की कृपा की अनुभूति अपने साथ मनोहर ज्योतियाँ लाई है। इस अनुभूति में एक रस है जिस का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। यह अनुभूति अमृत है। इसी से आत्मा को अपनी नित्यता का अनुभव हुआ है। इस अनुभूति के पूर्व के और पश्चात् के जीवन में स्पष्ट खाड़ी-सी दीखती है। सन्त कुछ का कुछ बन गया है। यह काया-पलट कुछ ऐसी अचानक हुई है कि इस का कारण ज्ञात

ही नहीं होता। प्रभु ने अपनी कृपा से अपने भक्त का काया-कल्प कर दिया है। उसे अकस्मात् मानो एक आध्यात्मिक स्वर्ग में रख दिया है। कहाँ उस का सूखा प्रयत्न-पूर्ण, कठोर संयम का जीवन ? और कहाँ यह भोगों के बीच ही में, भोगों से उठा हुआ, आत्म-तृप्ति का अलौकिक आनन्द ? यहाँ आत्मा शान्त है। उसे एक अलौकिक रस प्राप्त है। इस रस के आगे सांसारिक रस फीके हैं। अंगूर खा कर सेब नीरस प्रतीत होता है। विषयों की नीरसता उन का अपने आप संयम कर रही है। वह ज़ोर का वैराग्य—प्रयत्न-पूर्वक विषयों का त्याग—आज निष्फल प्रतीत हो रहा है। सोम का सोता बह उठने से ज्ञात ऐसा होता है जैसे इस सोम का सवन हुआ ही नहीं। सवन हुआ है। उसी से यह स्वर्गीय स्रोत उमड़ पड़ा है। मां ने बच्चे को उठाया तभी है जब वह लुढ़क-लुढ़क कर थक गया था। आत्म-दर्शन हुआ प्रभु की कृपा से ही है। परन्तु कृपा का प्रदर्शन तभी हुआ जब मनुष्य ने अपना सम्पूर्ण बल लगा लिया था। ये अकस्मात् उमड़ पड़े रस सवनों ही का परिणाम हैं।

इन्द्र के पास ऐश्वर्य था परन्तु अज्ञात। विभूति विद्यमान थी परन्तु तिरोहित। अभ्यास से, वैराग्य से आवरण उठ गये। इन्द्र "वृषा" बन गया—वह धर्म-स्वरूप हो गया। उस की ज्योति जगमगाने लगी। अब उसे प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रही। प्रभु की कृपा अपना पात्र ढूँढ रही थी। इधर यज्ञ कर रहे आत्मा का पात्र कच्चा था, यज्ञ की आग

में पक रहा था। इस का परिपाक पूर्ण हुआ। बह रही कृपा उस में थम गई। जो झोली युगों से ख़ाली चली आती थी, आज उस में रत्न ही रत्न दिखाई देते हैं। झोली भर गई है। पात्र पूर्ण हो गया है। इस पूर्णता का सेहरा परिपाक ही के सिर है।

इन्द्राय इन्दो परिस्रव

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परिस्रव।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्युमन्तं ँ शुष्ममाभर स्वर्विदम्॥ २॥

ऋषि:—चक्षुः = द्रष्टा, वक्ता।

(सोम) मेरी जान ! (जागृविः) तू जाग चुकी है। अब (प्र-धन्व) दौड़। (इन्दो) हे सरस ज्योति ! (इन्द्राय परिस्रव) इन्द्र के चारों ओर बह। (स्वर्विदम्) आनन्द-प्रद (द्युमन्तं शुष्मम्) प्रकाश-युक्त बल (आ-भर) ला।

आत्मा जब तक सोया हुआ था, सोया हुआ था। अब उस की आँख खुल गई। सोया हुआ, पड़ा था। जाग कर खड़ा हो गया है। अब उसे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान है। जीवन नाम ही गति का है—प्रगति का। प्रति-क्षण पूर्व की अपेक्षा आगे ही आगे दौड़ना है। इसी दौड़ने ही में आत्मा की विभूति है। पूर्णता तो परमेश्वर ही में है। वही विभूतियों का परम आदर्श है। उसी में जा कर ऐश्वर्य की पराकाष्ठा

हुई है। आत्मा में प्रकाश है, उस प्रकाश में रस है। प्रकाश आतुरता का लक्षण है। इस आतुरता में आभा है। विन्दु चमक भी रहा है, आर्द्र भी है। आर्द्रता जीवन है, जैसे चाँद में। चाँद सूर्य की सन्तान है—अमृत-पुत्र है। ऐसे ही जीव प्रभु की। सूर्य की प्रदक्षिणा करना ग्रहोपग्रहों का धर्म है। इसी से उन में प्रकाश रहता है। इसी से वे सजीव रहते हैं। सूर्य से पृथक् हो कर उन की कुछ भी तो सत्ता नहीं है। ग्रहोपग्रहों की सारी शक्ति—चमकीली शानदार शक्ति—सूर्य ही की देन है। यही स्थिति अध्यात्म जगत् की है। स्थावर जंगम सभी पदार्थ अपनी क्षुद्र से क्षुद्र क्रियाओं के लिए वल उस सर्वशक्तिमान् ही से पाते हैं। सव को सर्वाधार ही का आश्रय है। उस परमाश्रय से छूट कर किसी के लिए कोई ठौर-ठिकाना नहीं है। अणु-अणु परस्पर संवद्ध है। इसी सम्वन्ध से ही विश्व की सृष्टि हुई है। अलग-अलग पड़े अणु अपने में चाहे पूर्ण हों परन्तु इन की उस स्थिति से व्रह्माण्ड नहीं वन सकता। व्रह्माण्ड के अंशों के रूप में इन का सारा सौन्दर्य, सारी सत्ता उस "व्रह्मणस्पति" की कृपा से है जिस के हाथ में पड़ कर प्रत्येक अणु विभु वन गया है। विश्व का वैभव संयोग से है। इसी से यह मरुस्थली नन्दन-वन बन रही है। इस नन्दन-वन का आनन्द उस आनन्दमय इन्द्र ही की कृपा के कारण है। मेरी जान! तू अपना सम्वन्ध उसी आनन्दमय प्रभु से वनाय रख। तेरी प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य प्रभु की प्राप्ति हो।

संसार के सभी व्यवहारों में प्रभु की स्मृति बनी रहे। हाथ काम में हो, हृदय राम में। सूर्य से ओझल हो कर ही तो चाँद गहना जाता है। तू पृथिवी की नहीं, सूर्य की छाया में रह। सूर्य की छाया ज्योति है। पृथिवी की छाया ग्रहण—अन्धकार।

संसार असंख्य छोटी-छोटी ज्योतियों का रमणागार है। परन्तु इन ज्योतियों में चमक तभी तक है जब तक कि ये केन्द्रीभूत ज्योति—सूर्य—की प्रदक्षिणा से विचलित नहीं होतीं। सभी ज्योतियाँ उस महान् ज्योति की छाया-रूप हैं। उस सर्वशक्तिमान् की शक्ति से सभी सशक्त हैं।

किस अमित ज्योति के अमित खण्ड
बन गये ग्रहोपग्रह प्रचण्ड ?
धर फुलझड़ियों में तुलादण्ड
दिग्बालाएँ करतीं विहार।
हे दिग्दिगन्त के तुलाधार !

शिशु

सखाय आनिषीदत पुनानाय प्रगायत।
शिशुं न यज्ञैः परिभूषत श्रिये ॥ २ ॥

ऋषिः—पर्वतनारदौ = मेघ।

(सखायः) मित्रो ! (आ-निषीदत) आओ बैठो।
(पुनानाय प्र-गायत) उस पावन प्रभु के गीत गाओ।

(यज्ञैः) यज्ञों से [अपनी आत्मा को] (श्रिये परि-भूषत) शोभा के लिए ऐसे सजाओ (शिशुं न) जैसे [साफ़ सुथरे] बच्चे को ।

आओ ! संसार के लोगो ! हम सब मित्र हो जायें । पुराने द्वेषों को, वैरों को भुला दें । प्रभु के पुत्र प्रभु की गोद में एक हो जायें । प्रभु की स्तुति की लहरियों में घुल-मिल कर एक हो जायें । आओ ! आओ !! प्रभु की महिमा के गीत को गुँजायें । अपने ऊंचे स्वरों से आकाश-पाताल को एक कर दें । उन में प्रभु का प्यारा नाम भर दें । परम पिता का परम पावन नाम भर दें ।

आज संसार में एक नई ज्योति प्रकट हुई है—नई और फिर पुरानी । जगह-जगह प्रभु की सत्ता का अनुभव किया जा रहा है । व्याकुल आत्मा अपने प्यारे पिता के पुण्य संस्पर्श से पवित्र हो रही है ।

आत्मा की यह जागृति इस का आध्यात्मिक जन्म है । परम पिता की गोद में आ कर यह अनादि जीव अपने आप को शिशु-सा अनुभव कर रहा है । इस की वैर-वृत्ति मिट गई है । यह भोला-भाला बच्चा सब का सखा हो गया है । केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तथा पौधे और पेड़ इस के सखा हैं । यह उन के साथ मिल कर प्रभु की महिमा का गान करता है । भोले बालक को आत्मानुभूति ने नहला-धुला कर साफ़-सुथरा कर दिया है । आओ ! मित्रो ! इसे सजायें । निष्काम सरल-हृदय सन्त की वेष-भूषा उस का

यज्ञ है। यज्ञ व्यापक सखित्व ही का नाम है—बालोपम मित्रता का, निर्मल निर्वैरता का। सन्त वृद्ध बालक ही का दूसरा नाम है। विद्या में वृद्ध, निर्वैरता में बालक। यही वृत्ति यज्ञ की है। सन्त की शोभा उस की बालोपम सरलता से है। इसी सरलता से वह संसार-भर को अपना मित्र बनाय रहता है और स्वभावतः ही सब का उपकार करता जाता है।

लोरियाँ

१ २   ३ १ २   ३ २ ३ १ २
तं वः सखायो मदाय पुनानमभिगायत।
३   २   ३ १   २   ३ १ २
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्त्तिभिः॥ ४॥

ऋषिः—पर्वतनारदौ = मेघ।

(सखायः) मित्रो! (वः) तुम (मदाय) आत्माह्लाद के लिए (तं पुनानम्) उस पवित्रता ला रहे प्रभु के (अभि-गायत) गीत गाओ। उसे (हव्यैः गूर्त्तिभिः) हवि-रूप स्तुतियों से (स्वदयन्त) इस प्रकार खुश करो (शिशुं न) जैसे बच्चे को।

जितना छोटा बच्चा हो, उतना ही अधिक वह सरल होता है। उस में छल का नाम तक नहीं होता। वह निष्पापता की मूर्त्ति होता है। फिर प्रभो! तुम तो सरलतम हो। क्या तुम अत्यन्त छोटे बालक हो? तुम्हारा किसी से

वैर नहीं, विरोध नहीं। तुम्हें पाप-ताप ने छुआ तक नहीं। हमें जब से पाप की हवा लगी है, हमारा बाल-पन मानो हम से छिन गया है। तुम पुरातन से पुरातन हो पर अभी वही बालक के बालक ही चले आते हो। तुम्हारी मनोवृत्ति अत्यन्त सरल है। तुम में छल नहीं, कपट नहीं। जैसे संसार की हवा लगी ही न हो। तुम में पवित्रता की पराकाष्ठा है। क्या सचमुच तुम बच्चे हो?

बच्चे को मनाने के लिए लोरी दी जाती है। तो क्या तुम्हारी स्तुति वही लोरी है? भक्त माता है और तुम शिशु?

लोरी से बालक के मन पर तो जो असर हो सो हो। लोरी देती देती कुछ समय के लिए माता भी बालक-सी बन जाती है। वह लोरी देती जाती है। इसी में उसे आनन्द आता है। मानो उस का अपना शैशव ताज़ा हो गया है। बच्चा न भी रो रहा हो, माँ उसे उठा लेगी। चूमेगी, चाटेगी। दो गीतियाँ सुना देगी। उन गीतियों का कुछ अर्थ हो न हो। उन में वात्सल्य-रस भर रहा है। इसी पर माता मस्त है। रीझ-रीझ कर गा रही है। वारे वह रीझना! कैसा अनुपम नशा है, मस्ती है!

बच्चे को कुछ न कुछ दे जायें—यह भी प्रत्येक छोटे बड़े का जी चाहता है। इस देने में कोई स्वार्थ नहीं होता। बच्चा है, इसी लिए इसे कुछ दे जाना चाहिये। यही यज्ञ का रहस्य है—देना देने के लिए। ऐसा ही दान हव्य कहलाता है।

बच्चे को लोरी भी यज्ञार्थ दी जाती, पुरस्कार भी यज्ञार्थ दिया जाता है । इस देने में एक पवित्रता रहती है । एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है । उसी पवित्रता के लिए, उसी अलौकिक आनन्द के लिए प्रभु को शिशु मान कर उस की स्तुति करो, उसे हवि दो । प्रभु परम शिशु है—सरलतम, विमलतम शिशु । सखाओ ! आओ ! हम उस की माता बन जायें । शिशु लोरी देते हुए और अधिक प्यारा लगता है । पुरस्कार पा कर और अधिक प्रिय बन जाता है । आओ ! लोरियों से, पुरस्कारों से अपने वात्सल्य-रस को जगायें । प्रभु के प्यार को और मधुर बना दें ।

दोहरा प्यार

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३२ ३ १ २
प्राणा शिशुर्महीना ँ हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
३ १२ ३ १ २३१२ ३ २
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥ ५ ॥

ऋषिः—त्रितः = पूरा तरा हुआ ।

(शिशुः) बालक (महीनाम्) माताओं का (प्राणा) जीवन है । (ऋतस्य) यज्ञ की (दीधितिम्) भावना को (हिन्वन्) तेज़ कर रहा है । (विश्वा प्रिया) सब प्यारी वस्तुओं को (परि-भुवत्) व्याप रहा है । (अध द्विता) उन्हें दुगनी प्यारी बना रहा है ।

प्रभो ! तुम्हें पिता मान कर हम ने पूजा था। माता मान कर तुम से लाड़-चाव किया था। आज शिशु मान कर तुम से प्यार करते हैं। यह भावना कुछ अलौकिक-सी है। तुम बछड़े हो, हम गाय। हम तुम्हें चूमते हैं, चाटते हैं। बछड़ा गैया का प्राण है—जीवन है। किस तन्मयता से उसे दूध पिलाती और चूम-चाट कर साफ़-सुथरा कर देती है। उस के तन पर एक तिनका भी हो तो उसे अपनी ज़बान से हटाती है। यह प्यार की पराकाष्ठा है।

निस्स्वार्थ सेवा ही तो यज्ञ है। निष्काम प्यार ही तो आत्माहुति है। इस आहुति का रहस्य माता जानती है। शिशु पेट में था तो माँ के जीवन की प्रत्येक चेष्टा उसी के अर्पण थी। खाती है, पीती है—इस लिए कि वह खाया-पिया शिशु के शरीर को विकसित करेगा। व्यायाम उतना करती है जिस से बच्चे का शरीर स्वस्थ हो। सुनती वही शब्द है जो बालक के लिए स्वास्थ्यकर हों। देखती वही दृश्य है जिन का प्रभाव बालक के मन पर अच्छा पड़े। सच तो यह है कि माता का तन-मन दोनों अब बालक ही के अर्पण हैं। वैद्यों का कहना है कि यदि माता के शरीर में किसी अंश की कमी भी हो तो उस अंश में और अधिक कमी हो कर पहिले बालक ही के शरीर की पूर्त्ति होगी। माँ के दाँत झड़ जायँगे इस लिए कि बच्चे के दाँत उन दाँतों की जड़ों ही से बन सकते थे। इतना आत्म-समर्पण और कहाँ है ? गर्भ में तो यह अवस्था थी ही, पैदा

होने पर भी माता का प्रत्येक सुख बालक पर न्यौछावर है। सोते, जागते, चलते, फिरते बच्चा ही उस के जीवन का केन्द्र बन रहा है। उसे अमुक खाना अच्छा लगता है, इसी लिए कि उस से बालक को लाभ होगा। उसे अमुक वस्तु प्यारी लगती है, इसी लिए कि बालक की उस में रुचि है। चाँद किस के मन को नहीं भाता परन्तु माता की दृष्टि में वह विशेष स्थान पाए हुए है। इसी लिए कि बच्चा उसे देख कर उछलता है। फूल किस के मन को नहीं लुभाते, पर बच्चे की माँ उन पर विशेष मुग्ध है। तारों के नीचे कवि भी खड़ा होता है, ज्योतिषी भी, पर माँ अपने शिशु-कवि को, शिशु-ज्योतिषी को लिये, दो नहीं, चार आँखों की चार दूर-वीक्षिकाओं से उस का अध्ययन कर रही है। तसवीरों पर, खिलौनों पर अब उस का दुगना दिल आता है।

यज्ञ की यही मनोवृत्ति हम भक्तों की है। प्रभो! जब से तुम शिशु-रूप में प्रकट हुए हो हमारा सर्वस्व तुम्हारे अर्पण हो गया है। हमारे शरीर का अंग-अंग तुम्हारे लिए है। हम खाते हैं, पीते हैं इसी लिए कि तुम्हारी पूजा कर सकें। हम अपने स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं इसी लिए कि तुम्हारे यज्ञ में भाग ले सकें। हम पढ़ते हैं, विद्योपार्जन करते हैं इसी लिए कि तुम्हारी लीला को समझ सकें, तुम्हारे संदेश का संसार में प्रचार कर सकें।

तुम शिशु हो, हम माता हैं। तुम बछड़े हो, हम गैया हैं। यह प्रेम-सम्बन्ध अनुपम है, अलौकिक है। तुम्हारे

प्यार के कारण हमें संसार दुगना प्यारा लगने लगा है। हमें जीवन में दोहरा आनन्द आने लग गया है। प्रभो! जीवन तुम्हारा है, इस लिए पवित्र है, बहुमूल्य है। इस शरीर की कोई शक्ति हमारी नहीं। अणु-अणु तुम्हारा है। अंग-अंग तुम्हारा है। हम इसे व्यर्थ क्यों गँवायें? तुम चाहो रखो, चाहो उड़ाओ। सर्वस्व तुम्हारा है। हमें इस सर्वस्व से इतना ही सरोकार है कि इस के द्वारा तुम से प्यार कर जायें, प्यार कर जायें।

दिव्य भोज

१ २   ३ १ २   ३   २ ३   १ २ ३ १ २
पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा।
२ ३   १ २
आ कलशं मधुमांत्सोम नः सदः ॥ ६ ॥

ऋषिः—मनुः = विचारक।

(इन्दो) हे रसमयी ज्योति! (देव-वीतये) देवताओं के भोजन के लिए (धाराभिः) धाराओं के रूप में (ओजसा) बल-पूर्वक (पवस्व) पवित्रता का प्रवाह ला। (सोम) हे सरस संजीवनी! (मधुमान्) तू मधुर है। (नः कलशम्) हमारे हृदय-कलश में (आ-सदः) आसन लगा।

मेरी इन्द्र-पुरी के देवता भूखे हैं। इन्हें संसार के भोग ख़ूब मिले हैं, पर उन से इन की भूख नहीं मिटी। उन भोगों

का इन्हों ने जी भर कर आस्वादन किया है। कभी-कभी इन्हें अजीर्ण भी हो गया है। परन्तु भोगेच्छा बनी रही है। हृदय की शान्ति नहीं हुई, नहीं हुई।

भोगों से ऊब कर मेरी इन्द्रियों ने अनशन का रास्ता लिया है। ख़याल यह था कि जो भूख भोगों से शान्त नहीं हुई, वह भोजन न मिलने से अपने आप मिट जायगी। परन्तु सफलता इस परीक्षण में भी नहीं हुई। अनशन से अजीर्ण तो नहीं हुआ। विषयों तथा इन्द्रियों का संपर्क न होने से शरीर कुछ दुर्बल भी हो गय है। संभवतः इस में भौतिक पाप की अब उतनी शक्ति न हो। परन्तु मन के उपद्रवों को कौन मिटाय? मन ने भोगों के चित्र खींच लिये। अब भोग नहीं, भोगों के सपने आते हैं। जहाँ आँख बंद हुई, वहीं सब प्रकार के विषयों के सामान सम्मुख आ जाते हैं। वास्तविक भोगों के लाने में कुछ कठिनाई थी। अब वह बात भी नहीं है। मन को यह सिद्धि भी तो प्राप्त है कि संसार की जो वस्तु चाहे, उस का तत्क्षण संग्रह कर ले।

अब शान्ति हो तो कैसे? शान्ति हृदय की वस्तु है। वास्तविक विषयों से निवृत्त हो कर मन काल्पनिक विषयों में लग जाता है। ख़ाली पड़ा मन तो शैतान है ही। पर हां! जब कभी आत्मा के दर्शन हुए हैं—हृदय-कलश में सोम-रस का सवन हुआ है—तब विषयों की भूख जाती रही है। इस सरस ज्योति के आनन्द के आगे विषय नीरस ही नहीं,

कड़ुवे हैं। जब से आत्म-रति की धारा बहने लगी है, एक अद्भुत रस का अनुभव हुआ है। इस रस में ओज है, शक्ति है। इस से हृदय ऊबता नहीं। इस से अजीर्ण हो ही नहीं सकता। यह मीठा सोम इन्द्रियों को न तो विषयों में फँसाता ही है, न उन्हें खाने-पीने से बिल्कुल अलग ही कर देता है। सोम का प्रवाह निरन्तर धारा के रूप में चलता है। वह स्वयं इन्द्रियों ही को अमृत के सरोवर-से बना देता है। आँखें दृश्य देखती हैं और उन में आत्मा का प्रकाश पाती हैं। कान शब्द सुनते हैं और उन में अनाहत नाद की गूँज-सी अनुभव करते हैं। जीवन एक मधुर पवित्रता का प्रवाह-सा बन जाता है।

तो ऐ मेरी रसीली, चमकीली ज्योति! तू बहती जा। अब एक झाँकी ही नहीं, निरन्तर दर्शन देती जा। मेरे हृदय-कलश को अपना केन्द्र बना कर मेरी इन्द्र-पुरी—इस शरीर-रूपी नन्दन-वन—के तृषित देवताओं के मुख में अपनी पवित्रता की गंगाएँ बहा दे। देवताओं का वास्तविक भोजन यही ज्योति है—चाँद की किरणों की सी सरस ज्योति!

मूक वाणी

१ २ ३ २ ३ २र ३ २३ १ २
सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं विधावति।
१ २ ३ १र २र ४ ३ १ २
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ॥ ७ ॥

ऋषिः—अग्निः = अग्रणी।

(पवमानः) पुनीत (सोमः) संजीवन-रस (ऊर्मिणा) लहरों द्वारा (पुनानः) पवित्रता ला-ला कर (अव्यं वारम्) भावना-पूर्ण रोमांच के साथ-साथ (वि-धावति) दौड़ रहा है। (वाचः अग्रे) वाणी से पूर्व (कनिक्रदत्) गरज रहा है।

प्यारे ! मैं तुम्हारी स्तुति कैसे करूँ ? मैं ने तुम्हारा ध्यान ही किया था कि मुझे रोमांच हो आया। मेरे अंग-अंग में तुम्हारे प्रेम-पूर्ण स्पर्श की अनुभूति होने लगी। मेरे शरीर में एक प्रेम की लहर-सी दौड़ गई। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सम्पूर्ण विश्व ही तुम्हारे नाम का जाप कर रहा है। एक आवाज़ है जो सब ओर से उठ रही है। मेरे तो ओंठ भी हिलने नहीं पाते। मैं ने क्या-क्या सोच रखा था ? प्रियतम आयेंगे। यह कहूँगा, वह कहूँगा। अब किस से कहूँ ? क्या कहूँ ? तुम मेरे अंग-अंग में समा गये हो। इस मूक वाणी में भी तो तुम्हीं हो। तुम मेरी वाणी से पहिले बोल रहे हो। मैं चाहता हूँ—तुम्हारे नाम को गाऊँ। पर गाने की शक्ति भी तो तुम्हीं से आती है। मैं अपनी आवाज़ से पूर्व तुम्हारी आवाज़ को सुन लेता हूँ। मेरे कान झट

उस आवाज़ पर लग जाते हैं। अब मैं तुम्हारे गान को सुनूँ या अपनी तान उठाऊँ? मेरे रोम-रोम से तुम बोल रहे हो। बोल रहे हो और मुझे बोलने को तरसा रहे हो। तुम्हारी स्तुति करने की मेरी हसरत दिल ही दिल में रही जाती है। मैं तुम से कैसे कहूँ कि तुम अपना गीत एक क्षण के लिए बंद कर दो? तुम्हारे गीत में रस है—पवित्र संजीवन-रस है। उसे सुन कर मेरा सूखा हृदय सजीव हो उठा है। मेरे तन मन की सभी मलिनताएँ धुल गई हैं। एक विशेष निर्मलता का, एक विशेष स्फूर्ति का अनुभव हो रहा है। मैं इस स्फूर्ति को कैसे छोड़ूँ? तुम्हारे नाद से कैसे मुख मोड़ूँ? प्रभो! बोलते जाओ, बोलते जाओ। मेरे रोमांचित शरीर को अपने गान की बांसुरी बनाय रक्खो, बनाय रक्खो। मेरे रोम-रोम को अपने पवित्र प्यार की जीभ बना लो,बना लो। मैं बोलने की अपनी इच्छा का संयम कर लूँगा। मैं मूर्त्त-श्रवण हो जाऊँगा। तुम कहीं बोलो सही। अपना अनाहत नाद सुनाओ सही। हैं? क्या यह मैं बोल रहा हूँ? नहीं, यह बोली तुम्हारी ही है। मेरे रोमांच से प्रकट होती है, पर है तुम्हारी। मेरे ओंठ तो अभी हिले ही नहीं। मेरा तो यह "गूंगे का गुड़" है। अनायास तंबूरा हिल रहा है, उस से आवाज़ निकल रही है। यह तुम्हारे सोम-रस की—तुम्हारी दिव्य संजीवनी ही की—आवाज़ है।

———

भेंट का अभाव

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते ।

१र २र ३ १ २ ३ १ २
भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते ॥ ८ ॥

ऋषिः = द्वितः = दोनों (लोकों) का ज्ञानी ।

(वचः प्र-उच्यते) वाणी का उत्तम उपयोग यही है कि (सोमाय पुनानाय वेधसे) सोम पवित्रता ला-ला कर हमारे कर्मों का विधाता हो जाय । [ऐ मेरे मन !] (मतिभिः) भावनाओं से (जुजोषते) खुश हो जाने वाले [उस प्रभु] को (भृतिं न) भेंट-रूप में (भर) सर्वस्व दे दे ।

मेरी जान ! तुझे स्तुति का अवसर नहीं मिला तो क्या हुआ ? प्रभु के नाम का जप करने से आख़िर लाभ तो यही है ना कि हमारे अंग-अंग में प्रभु का प्रेम रम जाय । प्रभु के गुणों का गान एक मुख से नहीं, सहस्र-मुख से हो । भक्ति की गंगा हमारे रोम-रोम में बह जाय । सो तो अपने आप हो रहा है । हमारी प्रत्येक क्रिया की बागडोर प्रभु ने स्वयं सँभाल ली है । मैं तो बोल ही नहीं रहा पर मेरा सारा शरीर वाचाल है—रोम-रोम को ज़बान बना कर वाचाल है ।

उस बिन-छबि छैल छबीले की
छबि देख आंख झपकाना क्या ?
बिन जीभ अनाहत नाद हुआ,
कर आहत जीभ थकाना क्या ?

प्रभु विना जाप के, विना प्रार्थना के, विना स्तुति के रीझ गये हैं। हृदय में स्तुति की भावना ही उठी थी। विचार ही आया था कि उस का गुण गान करें। इतने ही में प्रभु निहाल हो गये। सोम-रस की वर्षा कर दी। मेरे रोम-रोम से उन की झाँकियाँ होने लगीं—मधुर रसीली झाँकियाँ। उन की मीठी सुरीली आवाज़ मेरे कानों में पड़ रही है। सारी काया कान हो उठी है। मैं आश्चर्य-चकित मूक हूँ। इस प्रकार अचानक पधार गये प्रभु को क्या चीज़ भेंट करूँ? इस समय मेरे पास है भी क्या? मेरी वाणी हर ली गई। मुझ में तो बोलने की शक्ति ही नहीं है जिस से घर आये प्रभु का स्वागत तो कर लूँ। मेरी तो अब छोटी से छोटी चेष्टा प्रभु के अधीन हो गई है। वे विधाता हैं और मैं विधान। इस समय उन की भेंट क्या वस्तु करूँ। आत्म-समर्पण? मेरे पास आत्मा ही कहाँ है? आज तो मेरा अपना आप भी खोया ही गया है। प्रभु को क्या दूँ? "भृतिं न भर—" कुछ भेंट मत कर। आज भेंट न देना ही भेंट है। भेंट का अभाव सब से बड़ी भेंट है। आज के स्वागत का रूप स्वागत का न हो सकना है। पुरस्कार का स्थान पुरस्कार का अभाव ले रहा है और यही परम पुरस्कार है। "भृतिं न" भृति के रूप में "भृतिं न" भृति न दे।

रंग वाला

१ २ ३ १ २ ३ ३ २
गोमन्न इन्दो अश्ववत्सुतः सुदक्ष धनिव ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय ॥ ९ ॥

ऋषिः—पर्वतनारदौ = मेघ ।

(इन्दो) हे सरस ज्योति ! (सुदक्ष) हे कल्याणकारी बल ! (नः) हमारी (गोमत्) इन्द्रियों पर, (अश्ववत्) हमारे प्राणों पर अधिकार कर, (धनिव) तू रस का सोता बहा। (च) और (शुचिं वर्णम्) अपना पवित्र रंग (गोषु) हमारी इन्द्रियों में (धारय) धर दे।

प्यारे ! अब तो तुम हमारे प्राणों के स्वामी हो ही चुके। तुम ने हमारी इन्द्रियों को अपनी झाँकी का झरोखा बना ही लिया। अब तो हमारे रोम-रोम में तुम्हारा डेरा है, तुम्हारी ज्योति है, तुम्हारी मीठी-मीठी आवाज़ है। अब तुम हम से पृथक् कैसे हो सकते हो ? इस बाड़े के गवाले तुम हो। इन्द्रिय-रूपी गायें तुम्हारी हैं। इस घुड़साल के मालिक तुम हो। अब हमारे प्राण तुम्हारी सवारी हैं। "तुम्हारे" कहने से इन में बल आता है, क्योंकि तुम बल-स्वरूप हो। तुम्हारा बल कल्याण का दूसरा नाम है। तुम परम श्रेयस् हो। हमारी इन्द्रियों पर तुम्हारा अधिकार हो जाय, हमारे प्राण तुम्हारे वश में हों—इस से अधिक सौभाग्य की और कौन सी बात हो सकती है ? हमारा श्वास-श्वास

तुम्हारे नाम की माला हो जाय। हमारा अंग-अंग तुम्हारी ज्योति का झरोखा हो जाय। यही परम कल्याण है। इसी को शास्त्र निःश्रेयस कहता है। मेरी देह के देही तुम हो। तो लो प्रभो! इन गायों और इन घोड़ों को ले कर संसार की कुशस्थली में घूम जाओ। गायों से दूध झरे। घोड़ों में गति हो, वेग हो, वीरता हो। तुम्हारे पवित्र रंग में ये गायें और ये घोड़े रँगे हों। संसार में प्रभु-प्रेम की वर्षा हो जाय। हमारी धर्म-यात्रा तुम्हारे पवित्र प्रेम की विजय-यात्रा हो।

पवित्र फाग

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभिवाणीरनूपत।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
गोभिष्टे वर्णमभिवासयामसि ॥ १० ॥

ऋषिः—पर्वतवारदौ = मेव।

(वाणीः) वाणियों ने (त्वा) तुम्हारी (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (वसुविदम्) दाता कह कर (अभि-अनूपत) स्तुति की है। (गोभिः) मातृ-भूमि, मातृ-भाषा, मातृ-संस्कृति—इन तीनों गायों के द्वारा हम (ते वर्णम्) तेरे रंग को (अभि-वासयामसि) चारों दिशाओ में बसा रहे हैं।

ऐ मधुर गवैये! तुम्हारे इन अनाहत नादों से हमें पता लग गया है कि वास्तविक धन के देने वाले तुम्हीं हो! सच्ची सम्पत्ति तो तुम्हारे अपने ही पास है। संसार में

जितने भी धन-धान्य तुम ने पैदा किये हैं, तुम्हारे बिना वे धनाभास हैं। तुम्हारे एक क्षण के सत्संग से हमें निश्चय हो गया है कि विश्व की विभूतियाँ तुम्हारी विभूतियाँ हैं। तुम इन विभूतियों के आत्मा हो। तुम्हारे बिना यह मृत शरीर-सी—शव-सी हैं। तुम्हारा प्यार तो निर्धनता में भी धनवान् बनाये रहता है और तुम्हारे पवित्र स्नेह के बिना कुबेर भी कंकरों ही का मालिक है। जड़ सम्पत्ति में रखा ही क्या है ? धन का धन-पना उस के उचित प्रयोग में है—दान में, दीनों की रक्षा में, प्राणियों के पालन में, एक ही शब्द में कहना हो तो, यज्ञ में। यह यज्ञमय प्रयोग तुम्हारे प्यार के बिना कैसे आये ? तुम्हीं सच्चे वसुविद् हो—याज्ञिक हो।

तो प्रभो ! तुम्हारा यही भाव हमारे अंदर बस रहा है। तुम्हारे इसी रंग की होली में हम नहा रहे हैं। हमारा अंग-अंग इसी भाव में भीज रहा है। तुम्हारी गो-शाला का यही पवित्र दूध हमारी नस-नस में, नाड़ी-नाड़ी में बस गया है। हमारा धर्म-प्रचार इसी दूध का प्रसार है। हमारी दिग्विजय धर्म-विजय ही तो है। हमारा फाग पवित्र दूध का फाग है। हमारा देश-प्रेम, भाषा-प्रेम, संस्कृति-प्रेम—सभी प्रेम इसी रंग में रँगे हैं। हम तुम्हारे ही नाम की पवित्र होली खेल रहे हैं। तुम वसुविद्—धनों के दाता हो तो तुम्हारे भक्त भी तुम्हारे "वसु" के—सच्चे धन-धान्य के—देने वाले हैं। हमारी भक्ति यज्ञमय, हमारी स्तुति, प्रार्थना,

उपासना सब यज्ञमय है। हमारी नाड़ियों में यजमानों का ही खून है। वह खौलता है तो यज्ञ ही के लिए। तुम्हारे पवित्र "वसुविद्" रूप के प्रचार के लिए।

वीरों का यश

१ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
पवते हर्यतो हरिरति ह्वराꣳसि रꣳह्या।
३क २र ३ १ २ ३२३ १ २
अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥११॥

ऋषिः—अग्निः = अग्रणी।

(हर्यतः) कमनीय (हरिः) चित-चोर (रंह्या) अपनी पवित्रता के प्रवाह से (ह्वरांसि) सब कुटिलताओं का (अति-पवते) नाश कर रहा है। [हे सत्य-स्वरूप!] (स्तोतृभ्यः) हम स्तुति करने वालों के लिए (वीरवत् यशः) वीरों का सा यश बन कर (अभि-अर्ष) आइये, हमारे चारों ओर छा जाइये।

हे सत्य-स्वरूप प्रभो! जब से आप का प्रेम हृदय में समा गया है, हमारे सम्पूर्ण जीवन में एक विचित्र सरलता की आभा-सी आ गई है। हम सत्य पर मुग्ध हो गये हैं। तुम्हारा सारा सौंदर्य तुम्हारे इस सरल सत्य ही के कारण है। तुम ज्ञान के भाण्डार हो और फिर इतने भोले। तुम्हारा भोला सौन्दर्य हृदयों को हर रहा है। यह निष्कपट छबि सचमुच चित-चोर छबि हो रही है। इस के आकर्षण का प्रतिरोध कौन कर सकता है? जी स्वयं चाहता है—इस की ओर खिंचते जाओ, खिंचते जाओ। एक तुम चित-चोर!

फिर हमारे हृदय ही चुराये जाने पर उधार खाये हुए ! इस अवस्था में हम अपने आपे में कैसे रहें ?

तुम्हारे दर्शन से पूर्व हमें संसार का लिहाज़ था। बड़े छोटे का भय था। बिरादरी की लज्जा थी। अब लिहाज़ है तो एक तुम्हारा, लज्जा है तो एक तुम्हारी। अब तो एक ही चीज़ में हमें अपनी प्रतिष्ठा प्रतीत होती है। वह है सत्य—बेलाग सत्य। भले हैं तो, बुरे हैं तो। हम तुम्हारे ही तो हैं। तुम बेलाग सत्य हो तो हम तुम्हारे भक्त—तुम्हारा नित्य प्रति नाम लेने वाले, कारण अकारण तुम्हारी स्तुति करने वाले—असत्य बोल कर तुम्हारे नाम को कलंकित क्यों करें ? प्रभो ! सच तो यह है कि अब हमें तुम्हारा बेलाग सत्य-स्वरूप भा गया है। इसी का रंग हम पर चढ़ गया है। हम इस तुम्हारे भोले स्वरूप के मस्ताने हो रहे हैं। इस स्वरूप में वीरता है, निर्भयता है, सच्ची सच्चरित्रता है। इसी में हमारा यश है। लोग बुरा कहते हैं, कहें। बिरादरी दण्ड देती है, दे। सर्कारें नियन्त्रित करती हैं, करें। हमारा मान, हमारी ख्याति, हमारा यश सत्य ही में है। यही वीरों का—प्रभु के भक्तों का—यश है।

कहती है बुरा, कहे दुनिया,
इस कुलटा को पतियाना क्या ?
जब प्रेम-गली में पाँव धरा,
तब अपयश से घबराना क्या ?

प्रभो ! अब तो हमारा यश तुम्हीं हो।

कवियों का गीत

३ १ २ ३ २३ १ २ ३ १ २
परि कोशं मधुश्चुत ँ सोमः पुनानो अर्षति ।
३ २३ ३१ २ ३ १ २
अभि वाणीर्ऋषीणाँ सप्तानूषत ॥१२॥

ऋषिः—द्वितः = दोनों (लोकों) का ज्ञानी ।

(सोमः) प्रभु-प्रेम का संजीवन-रस (पुनानः) पवित्रता लाता हुआ (मधुश्चुतम्) मिठास टपका रहे आनन्दमय (कोशम्) कोष को (परि-अर्षति) व्याप रहा है । (ऋषीणाम्) इन्द्रियों की (सप्त वाणीः) सातों वाणियाँ (अभि-आनूषत) सब ओर से उस के गीत गा रही हैं ।

प्रभो ! अब हम अन्नमय कोष से ऊपर उठ चुके हैं । हम खाते भी हैं, पीते भी हैं परन्तु किसी ऊँचे उद्देश्य के लिए । हम प्राणमय-कोष से भी ऊपर उठ गये हैं । हम श्वास तो लेते हैं परन्तु इस श्वास लेने का भी कुछ उत्कृष्ट उद्देश्य है । प्रभो ! अब तो हमारा श्वास-श्वास तुम्हारे पवित्र नाम की माला बन गया है । हम तो जीते केवल इस लिए हैं कि तुम्हारा कीर्तन कर सकें । तुम वास्तव में हमारे प्राणाधार हो । अब तो हम मनोमय तथा विज्ञानमय कोष तक भी परिमित नहीं रहे । बाह्य ज्ञान हमें सन्तोष नहीं देता । तुम्हारी कृपा की अनुभूति ने आत्म-प्रसाद प्राप्त करा हमें आनन्दमय कोष तक पहुँचा दिया है ।

प्रभो ! अब एक हम हैं, दूसरे तुम हो । यह कोष तो वास्तव में है ही तुम्हारी कृपा का । यहाँ संजीवनी ही

संजीवनी है। स्रष्टृत्व ही स्रष्टृत्व है। इस कोष तक मृत्यु की पहुँच ही नहीं है। हम अमर हो गये हैं। तुम्हारी कृपा हमें प्रति-क्षण नया जीवन दे रही है। अब हम मर कैसे सकते हैं?

स्तुति का आनन्द हमें अब आने लगा है, जब केवल जीभ ही नहीं, अपितु आँखें, कान, नासिकाएँ तथा मुख— सातों मुख्य-मुख्य अंग अपनी-अपनी वाणी से तुम्हारे गीत गा रहे हैं। मेरे संपूर्ण ज्ञान का विषय ही आज तुम हो। देखने को तो मैं चकित हूँ, चुप हूँ, परन्तु मेरी चुप आज बोल उठी है। इस चुप का कैसा मीठा राग है! कैसा रसीला स्वर है!

आज मुझे पता लग गया है कि इन्द्रियों को ऋषि क्यों कहा जाता है? आज मेरा अंग-अंग तुम्हारा साक्षात्कार कर रहा है। आँखें तुम्हारी महिमा को पहिचान गई हैं। इन्हें रूप-मात्र में तुम दिखाई देते हो। रूप की प्रतीति तुम्हारी देन है। कान तुम्हारे गौरव के गीत पर मस्त हो रहे हैं। इन की श्रवण की शक्ति स्वयं तुम्हारी संजीवनी का सुरीला संगीत है। गन्ध और घ्राण का संबन्ध एक दिव्य वस्तु है। इन को एक दूसरे के अनुकूल किस ने किया? नासिका गन्ध पर मस्त है। उसे पता लग गया है कि इस गन्ध का दिव्य आधार तुम हो। मुख को चखने की शक्ति किस ने दी? स्वाद को रसना के साथ किस ने मिलाया? आज रसना तुम्हारा दिया स्वाद ले रही है। सभी अंग ऋषि हो

गये हैं। इन्हों ने जीवन का वास्तविक रस पा लिया है। आवरणों के पीछे का, आनन्द इन्हें आज प्राप्त हो गया है। यह आनन्द तुम हो। ऐ मेरे आनन्दमय कोप के आनन्द ! सच्चा आनन्द तुम्हीं हो। तुम्हारी संजीवनी से ही इन ऋषियों का जीवन है—ऋषित्व है। मेरी आत्मदर्शी इन्द्रियाँ आज परमात्मदर्शी हो रही हैं। उन्हें अपनी सत्ता का पता लग गया है। वह सत्ता प्रभु की—सोम के स्रोत की—देन है।

इस आनन्द पर मस्त हो-हो कर मेरी ऋषि इन्द्रियाँ गानमय हो रही हैं। अपनी मूक वाणी में ये सभी तुम्हारे ही गीत गा रही हैं। प्रत्येक की चेष्टा दिव्य है। प्रत्येक का व्यवहार अलौकिक है। जड़ परमाणुओं के इन पिण्डों में चेतनता कैसे आई ? इन में ऋषित्व का प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? मेरी ऋषि इन्द्रियों का ऋषित्व तुम्हारी महिमा ही का मूर्त्त राग है। आज तो प्रभो ! मेरा सुनना, मेरा देखना, मेरा चखना, मेरा सूंघना, मेरा छूना—ये सब तुम्हारी ही महिमा का कीर्तन है। मेरा संपूर्ण जीवन एक लंबी सन्ध्या-सा—एक लंबा कीर्तन-सा—हो रहा है।

एकादश खण्ड

छन्दः—१–४,६ ककुप्; ५ यवमध्या गायत्री; ७,८ प्रगाथः ।
स्वरः–१–४, ६ ऋषभः; ५ षड्जः; ७, ८ मध्यमः ॥

कर्तव्य का नशा

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
महि द्युक्षतमो मदः ॥ १ ॥

ऋषिः—गौरिवीतिः = वाणी को प्राप्त ।

(सोम) ऐ मेरी जान ! (क्रतुवित्तमः) तू कर्तव्य की पूरी भावना के साथ (मधुमत्तमः) अत्यन्त मधुर (मदः) हर्ष की मूर्त्ति हो कर (इन्द्राय) भगवान् की ओर (पवस्व) गति कर। (महि) महान् (द्युक्षतमः) अत्यन्त चमकीली (मदः) हर्ष की मूर्त्ति हो कर।

ऐ मेरे मन ! तू मस्ताना बन। दीवाना बन। अन्य मद तो कर्तव्य की भावना को मिटा देते हैं। तेरी मस्ती तेरी कर्तव्य की भावना को और अधिक तीव्र कर दे। तू अपने कर्तव्य-पथ से डिगना नहीं, उस पर उलटा, और भी

दृढ़ हो जाना। ऐसा दृढ़ कि संसार का कोई प्रलोभन, कोई भय तुझे इस चट्टान से हटा न सके। तुझे नशा ही कर्तव्य-पालन का हो।

मेरी जान! तू रसमय है। तेरे लिए जीवन का सभी व्यापार रसमय हो रहा है। कर्तव्य-पालन का सा आनन्द किसी और व्यापार में है ही कहाँ? इस के लिए कष्ट सहन करना, दुःख-दर्द उठाना, अत्यन्त मधुर है, अत्यन्त रसीला है। वह कर्तव्य ही क्या जिस के पालन में आत्म-त्याग की आवश्यकता ही न पड़े? पहिले धन कमाने का लोभ था, अब धर्म के मार्ग में धन लुटाने का लोभ है। पहिले प्रतिष्ठा पाने की उत्सुकता थी। अब सत्य की प्रतिष्ठा के लिए अपने आप अप्रतिष्ठित हो जाने में खुशी है। वास्तविक प्रतिष्ठा है ही सत्य की, सदाचार की।

अब तो हमारा एक-मात्र धन भगवान् ही है। हमारा एक-मात्र यश भगवान् की दृष्टि में ऊँचा उठ जाना ही हो रहा है। भगवान् की ओर जाने में ही आत्मा की सफलता है। मेरी जान! तू भगवान् की ओर गति कर। उसी की खुशी में अपनी खुशी समझ। इस मनो-भावना में एक उल्लास है जो अन्य किसी भावना द्वारा प्राप्त नहीं होता। एक आनन्द है, एक मस्ती है जो साधक को झट किसी और लोक का वासी बना देती है। अत्यन्त प्रकाश-युक्त, अत्यन्त उल्लास-पूर्ण मस्ती!

मेरे मन! तू मस्ताना बन। दीवाना बन। इतना

मस्ताना कि अपनी मस्ती से भी बेख़बर हो जा। इतना दीवाना कि तुझे अपने दीवाना होने की भी सुध-बुध न रहे ।

मेरी जान! तू मस्ती की मूरत बन जा। तेरा वास्तविक स्वरूप है ही मद—हर्ष, आह्लाद, दीवानगी, मस्ती। कर्तव्य की मस्ती, सदाचार की मस्ती, न टलने वाले धर्म की मस्ती।

मधुकोष

३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अभिद्युम्नं बृहद्यशः इषस्पते दिदीहि देव देवयुम्।
१ र २ र ३ २ २
वि कोशं मध्यमं युव ॥ २ ॥

ऋषिः—ऊर्ध्वसद्मा = ऊपर के स्थान वाला।

(देव इषस्पते) ऐ अन्न के स्वामी ! ऐ मेरी दिव्य स्वभाव आत्मा ! (द्युम्नं बृहद्यशः अभि) उस प्रकाश-स्वरूप महान् यशस्वी [प्रभु] के सन्मुख (दिदीहि) अपने दिव्य स्वरूप को प्रकाशित कर (देवयुम्) जो देव-स्वभाव की कामना करता है। (मध्यमं कोषम्) कोष तेरे अंदर है। (वि-युव) उसे खोल ले।

संसार अन्न का भाण्डार है। आत्मा अत्ता है—भोक्ता है; और संसार अन्न—उस का भोग्य। भोक्ता और भोग्य का संबन्ध कितना दिव्य है ! मैं देखता हूँ, संसार दिखाई

देता है। मेरी आँखें भी उन्हीं भूतों की बनी हैं, जिन का दृश्य जगत्। फिर ये देखती कैसे हैं? आँखों से, कानों से, नासिका से, मुख से मैं संसार का भोग कर रहा हूँ। मेरे भौतिक अंग भोग के साधन हैं। इन में चिति है, चेतनता है। यही इन की दिव्यता है—देवपना है। यह देवपना आत्मा के कारण है। मैं आत्मा हूँ।

ऐ मेरी दिव्य आत्मा! तू प्रकाशित हो। अपने दिव्य स्वभाव को प्रकट कर। तेरा देखना, सुनना, सूंघना, चखना—सभी दिव्य हो। तू इषस्पति है—अन्न-मात्र का स्वामी, भोग्य जगत् का भोक्ता। मेरे इषस्पति देव! तू दिव्य भोक्ता हो।

इस दिव्यता के प्रकाश से तू उस प्रकाश-स्वरूप परमेश्वर के दर्शन कर जिस की महिमा महान् है। तू यशस्वी होना चाहता है तो उसी के यश से यशस्वी हो। उसी के सम्मुख अपना मुख उज्ज्वल कर। तू देव है या असुर? इस रहस्य का पूर्ण ज्ञान उसी प्रकाश-स्वरूप को है जिस से, छिपी से छिपी हुई कोई बात छिपी नहीं रह सकती। संसार बुरा कहे या भला, उस में भूल की बड़ी संभावना है। प्रभु भ्रान्ति से रहित है। वह ज्ञान-स्वरूप है। कोई दुनिया को धोखा दे ले, दे ले। और तो और, अपने आप को भी धोखा दे ले, दे ले। प्रभु को धोखा नहीं दिया जा सकता। तू उस अन्तर्यामी ही की प्रसन्नता लाभ कर। वास्तविक यश—महान् यश—उसी की प्रसन्नता में है। तू अपने दिव्य स्वभाव को उसी के सम्मुख प्रकाशित कर।

प्रभु दिव्यता-प्रिय है—"देवयु" है। वह देवों का देव—सन्तों का सन्त—अपने प्यारों की ओर हाथ पसार-पसार कर बढ़ रहा है। तू उस की फैल रही भुजाओं की ओर बढ़। उस वत्सल पिता की वत्सलता का आनन्द लूट। तू देव बन कर ही उस देवों के देव की महान् दिव्यता का रसास्वादन कर सकता है।

प्रभु स्वयं आनन्द का कोष है। यह कोष मेरे बाहर नहीं, अंदर है। जब मैं ने अन्न और अत्ता के संबन्ध को समझ लिया तो मेरा अन्नमय कोष खुल गया। जब मैं ने प्राणों में उस प्राणाधार को बसा लिया तो प्राणमय कोष के किवाट खुल गये। जब मैं ने अपना मनन तथा ज्ञान उसी के अर्पण कर दिया तो मनोमय कोष तथा विज्ञानमय कोष भी मेरे बन्धन का कारण न रहे। अब मुझे इन सारे व्यापारों में एक दिव्य रस की अनुभूति होती है। खाते, पीते, श्वास लेते, सोचते, समझते, विचार करते एक दिव्य आनन्द की प्रतीति हो रही है। सब कोषों के अंदर का, मध्य का, बीच का कोष खुल गया है। अपने आप खुल गया है। जब से मेरी इन्द्रियाँ देव हुई हैं, मेरा अन्तरात्मा देव बना है, यह दिव्य कोष अपने आप खुल गया है। इन्द्रियाँ देव थीं, पर इन्हें इस का ज्ञान न था, ये भटक जाती थीं। अन्तरात्मा देव था पर उसे अपने देव होने की ख़बर न थी। जब से आत्मा ने अपने आप को पहिचान लिया है, मेरी इन्द्रियों को आत्म-प्रसाद बाँट दिया है, मेरी सभी इन्द्रियाँ

ऋषि हो गई हैं। मेरी आत्मा आत्मदर्शी हो गई है। आत्म-दर्शी ही परमात्मदर्शी है। उस ने अपना दिव्य स्थान पहिचान लिया है। आत्मा की परम स्थिति आनन्दमय कोष में है— अर्थात् प्रभु की अनन्त कृपा में। शेष सभी कोष उस आनन्दमय कोष ही की ज्योति से प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। उसी का अलौकिक रस इन सूखे काष्ठों को सरस बना रहा है। वह दिव्य रस का स्रोत खुल गया है, खुल गया है। मेरे आत्मा की दिव्यता से खुल गया है। मेरी इन्द्रियों के देव बनते ही खुल गया है।

अश्वमेध

आ सोता परिषिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरꣳरजस्तुरम्।
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥ ३ ॥

ऋषिः—ऋजिश्वा = सरल गति वाला।

(अप्तुरम्) तरंगों को अधिक तरंगित करने वाले (रजस्तुरम्) लोक-लोकान्तर को नई स्फूर्ति देने वाले (वन-प्रक्षम्) मेघों को छू आने वाले (उदप्रुतम्) सतत बहने वाले (स्तोमम्) स्तुति-संगीत का (आ-सोत) सब ओर से सवन करो। (अश्वं न) उस का [यज्ञिय] अश्व की तरह (परि-षिञ्चत) अभिषेक करो।

मेरी इन्द्र-पुरी के देवो ! तुम अश्वमेध के लिए तैय्यार हो जाओ। तुम्हारा साम्राज्य लोक-लोकान्तर को व्याप जाने वाला है। तुम दिग्विजय के लिए निकलो। तुम्हारा यज्ञिय घोड़ा तुम्हारा स्वाभाविक स्तोम है।

मेरी इन्द्रियो ! यदि वास्तव में तुम ऋषि हो तो तुम्हारा प्रेम-पूर्ण व्यवहार सम्पूर्ण विश्व को जीत लेगा। यदि सचमुच तुम्हारा देखना, सुनना, चखना, सूंघना, छूना—सब प्रभु की भक्ति का संगीत है, तुम अपने भिन्न-भिन्न बाजों की स्वरें मिला कर एक साथ प्रभु की महिमा की ही तान उठा रहे हो, तो सम्पूर्ण विश्व तुम्हारा अपने आप स्वागत करेगा। यही संगीत तुम्हारा घोड़ा बन जायगा। लोक-लोकान्तर में उस का अभिनन्दन होगा। तुम्हारे इस संगीत द्वारा संसार-भर में नई तरंगों को, नई भावनाओं को जन्म मिलेगा। इन के परिणाम-स्वरूप लोपोपकार के नये आन्दोलन उठेंगे। मनुष्य का हृदय मनुष्य-मात्र की ओर खिंचेगा। जाति के, देश के, रंग-रूप के भेद मिटेंगे। मनुष्य मनुष्य का बन्धु बन जायगा। तुम्हारा संगीत—सात ऋषियों का संगीत—हिलोर पर हिलोर पैदा कर एक महान् विप्लव बन जायगा। यह विप्लव सतत बढ़ता जायगा। यह आन्दोलन पृथिवी तथा आकाश दोनों को एक साथ व्याप्त कर लेगा। मेघों के गर्जन में, नदियों की स्वर-लहरियों में, झंझा की झन-झन में तुम्हारे संगीत की गुंजार होगी। इस यज्ञिय अश्व को दसों दिशाएँ अपनायेंगी, रिझायेंगी।

मेरी इन्द्रियो ! तुम इसी अश्व को अपने आगे कर लो। इसे नहलाओ, धुलाओ। अपनी सरस भावनाओं से इस का अभिषेक करो। इस पवित्र अश्व का जन्म हो चुका है। तुम्हारे रोम-रोम में इस की हिनहिनाहट है। इसे सजाओ, सँवारो। यही तुम्हारी विजय-यात्रा का अगुआ होगा। योद्धाओं के अश्व-मेध सुने हैं। आज ऋषियों का अश्वमेध है। क्षत्रियों के दिग्विजय लोक-विख्यात हैं। आज देवों का दिग्विजय है। भेरियों और दुन्दुभियों की विजय-यात्राएँ हो चुकीं। आज स्तुति-संगीतों की—स्तोमों की—विजय-यात्रा है।

इस, हैं ? उस

३२३ १ २ ३ १२ ३१ २ ३ १ २ ३ १२

एतमु त्यं मदच्युत ँ सहस्रधारं वृषभं दिवोदुहम्।

३ १ २ ३ १ २

विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥ ४ ॥

ऋषिः—कृतयशाः = यशस्वी ।

(एतम् उत्यम्) इस, हैं ? उस (मदच्युतम्) मस्ती टपका रहे (सहस्रधारम्) हज़ारों धारों में (वृषभम्) बरस रहे (दिवोदुहम्) द्युलोक को दोहने वाले (विश्वा वसूनि) सम्पूर्ण धनों को (बिभ्रतम्) अपने में धारण किये [स्तोमं सोत परिषिञ्चत] स्तुति-संगीत का सवन करो, अभिषेक करो।

स्तुति का दिव्य संगीत यहाँ है, वहाँ है। मेरे रोम-

रोम से उठ रहा है। आकाश-पाताल में गूँज उठा है। सम्पूर्ण विश्व रचयिता की महिमा का गीत गा रहा है। इस गीत में मस्ती है, हर्ष है, एक अद्‌भुत नशा है। मैं ने कहा था—यह गीत। यही गीत दिग्दिगन्त से सुनाई देने लगा। अब "यह" गीत "वह" गीत बन गया है। मेरे अंदर से उठने के कारण "यह" है। बाहर से सुनाई देने के कारण "वह" है। नशे ने "यह" और "वह" का भेद मिटा दिया है। मस्ती का मारा पत्ता-पत्ता झूम रहा है। अणु-अणु चक्कर काट रहा है। एक रास है जो यहाँ, वहाँ सर्वत्र चल रही है। उपग्रह ग्रहों के, ग्रह सूर्यों के गिर्द मस्त हो हो कर नाच रहे हैं। अणु-अणु में विद्युत् के कण वही रास रचा रहे हैं। प्रत्येक अणु एक सौर संस्थान-सा बन रहा है। नाचता, खेलता, झूमता सौर संस्थान! किरणें पानी की तरंगों पर, तरंगें वायु के झोकों पर लपक-लपक कर गिर रही हैं। वनस्पतियों में, बेलों का, डालों का, शाखाओं का मस्ती-भरा आलिंगन वही प्रेम-रस टपका रहा है। मस्ती सहस्रधार हो बह रही है, बरस रही है।

मेरी स्तुति के राग में कौन अपना स्वर नहीं मिला रहा? ग्रह, उपग्रह, सूर्य, चाँद, तारे, पृथिवी और द्युलोक—नहीं, इन सब में का अणु-अणु मेरे प्रभु के गीत गा रहा है। यह गीत, वह गीत—सर्वत्र गीत ही गीत है। किरणें, लहरें, डालें, शाखाएँ नाच रही हैं नाच-नाच कर गा रही हैं। मेरे स्वर में अपना स्वर मिला रही हैं।

आज मेरा स्तोम बछड़ा बन गया है। इस ने विश्व-धेनु को दोह लिया है। किरणों को दोह लिया है, लोकों को दोह लिया है, वाणियों को दोह लिया है। आज मेरे गीत में दूध उमड़ रहा है—किरणों-सा चमकीला दूध, सोम-सा रसीला, नशीला दूध। मेरा गान, मेरी इन्द्रियों की, मेरे मन की, मेरे आत्मा की, ज्योति का सार है। नहीं, ग्रहों का उपग्रहों का, सम्पूर्ण ज्योतिर्मय लोकों के आलोक का सार है। विश्व की सम्पूर्ण विभूतियों की एक विभूति यह गीत है। सभी धन, सभी रस, सभी आनन्द इस गीत के अंग-भूत हैं। जीवन नाम ही इस गीत का है। विश्व की वस्ती में बसना यही है, बसाना यही है।

मेरी इन्द्र-पुरी के देवो! इस स्तोम का सवन करो। यही सोम है। यही यज्ञ का सार है। संसार में सब ओर इस रस को सींच दो, बसा दो, बहा दो, बरसा दो। इस सोम के बिना संसार सूखा है। इसे सरसा दो, सरसा दो। इस सोम के बिना विश्व सूना है। इसे बसा दो, बसा दो।

अच्छे मनुष्य

१ २ ३ १र २र३ २ २ १ २ २ १ २र
स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इळानाम् ।
२ ३ १ २ ३ २
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥ ५ ॥

ऋषिः—ऋणवः = ज्ञानी, गतिमान्, पहुँचा हुआ ।

(स सोमः) उस संजीवन-रस का (सुन्वे) सवन किया जा रहा है (यः वसूनाम्)जो धनों का, (यः रायाम्) जो आनन्दों का, (यः इळानाम्) जो गायों का, (यः सुक्षितीनाम्) जो अच्छे मनुष्यों का (आनेता) लाने वाला है ।

प्रभो ! तुम्हारे भक्त हो कर हम ने आज जीवन का सार पा लिया है । हम ने उस रस को प्राप्त कर लिया है जिस के द्वारा यह सारा विश्व जी रहा है । संसार की जातियों को "वसु" चाहिए । "वसु" वे साधन हैं जिन से जीवन का निर्वाह चलता है । वही वास्तविक धन है । वास्तविक धन की उपज संसार में अधिक हो । संसार के मनुष्य आपस में लड़-भिड़ कर नहीं, परस्पर प्यार से, सहयोग से जीवन के साधनों को जुटाने में लग जायें । उन में उत्पादन-कला की वृद्धि हो । जीवन-होड़ का सिद्धान्त तो व्यक्तियों को व्यक्तियों तथा जातियों को जातियों का शत्रु बना रहा है । उन की उत्पादन-शक्ति का नाश कर रहा है । सोम उत्पादक तत्व है । यह व्यक्तियों और समूहों को सहकारिता सिखाता है । उन में परस्पर स्नेह की गंगा बहाता है,

जिस से "वसुओं" अर्थात् वास की सामग्री की सर्वत्र बहुतायत हो जाय।

इस सामग्री का उत्तम उपभोग भी परस्पर की प्रीति ही से हो सकता है। वह उपभोग पूरा आनन्द नहीं देता जो लोगों की आँख बचा कर किया जाय। आनन्द, मिल कर खाने में है। "वसु" रत्न बन जाता है जब उस के उपभोग में दूसरे भी म्मिलित हों। हमारी भक्ति की तरंगों ने इस "रमण"-कला को खूब प्रचलित किया है। व्यक्ति व्यक्तियों के, जातियाँ जातियों के उद्धार में लग रही हैं। धनी की भूख निर्धन का पेट भरे बिना शान्त नहीं हो रही। यही यज्ञ है, यही संजीवन के सार—सोम-रस—का सवन है।

इसी सोम-रस से यजमानों की गायों—भूमि, भाषा तथा विचारों की परम्परा—का उद्धार हो रहा है। संसार-भर के देश सुखी हों। उन की परम्परागत संस्कृतियाँ सुरक्षित ही नहीं, विकसित हों—यह पुण्य भावना हमारी प्रभु-भक्ति का सब से उत्तम फल है। संस्कृतियाँ गायों की तरह इस विश्व के तल पर निवास करें। उन में परस्पर सहयोग का, स्नेह का भाव हो, वैर-विरोध का नहीं। वे इळाएँ हैं, अघ्न्याएँ हैं—यह बुद्धि हमारे सोम-रस के सवन से फैल रही है। इळाएँ अघ्न्या बन रही हैं।

सभी सुधार मूलतः मनुष्य ही के सुधार पर निर्भर हैं। वही प्रचार सफल है जो मनुष्य को अच्छा बना दे। सारा

खेल मनुष्य के हृदय का है। हमारा सोम मनुष्य के हृदय का सोम है। स्तुति का हमारा संगीत मनुष्य की नस-नस से, नाड़ी-नाड़ी से उठता है, रोम-रोम से अपनी पवित्र ध्वनि को उठाता है और सारे विश्व में छा जाता है। सहृदयों के हृदय इस की मीठी चोट से बच नहीं सकते। जहाँ भावना है, वहाँ हमारे संगीत की पहुँच है। जहां सहृदयता है, वहीं हमारे सोम का स्रोत है। यह पवित्र झरना स्थान-स्थान पर उमड़ रहा है, उबल रहा है। मनुष्य वैरी से प्रेमी, स्वार्थी से परोपकारी, छली से सत्य-स्नेही बन रहा है। यही हमारे सोम की करामात है। मानव सन्तान इस सोम-सरोवर में स्नान कर नया जीवन प्राप्त कर रही है। प्रभु की यज्ञमय भक्ति व्यक्तियों तथा समूहों दोनों को एक साथ यजमान बना रही है।

अमर पद

२ १ २ २ १२ ३ १ २ ३ १ २
त्वꣳह्या३ङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि द्युमत्तमः ।
३ १ २ ३ १ २
अमृतत्वाय घोषयन् ॥ ६ ॥

ऋषिः—शक्तिः=शक्ति ।

(*दैव्य पवमान) ऐ मेरे अंग-अंग के पवित्र करने वाले सोम ! (अंग) ऐ मेरे अंग ! (त्वं हि) तू ही तो (द्युमत्तमः) अत्यन्त प्रदीप्त हो कर (जनिमानि अमृतत्वाय घोषयन्) मेरे जन्म-जन्मान्तर को अमर पद की प्राप्ति का नाद सुना रहा है ।

आत्मा अमर है । मृत्यु शरीर की होती है, शरीरी की नहीं । यह बात सुन तो रखी थी पर इस की अनुभूति आज हो रही है । सात ऋषियों द्वारा उठाया हुआ स्तुति-संगीत मेरे संपूर्ण जीवन को अमृतमय बना रहा है । प्रभु के प्यारे हाथ हमें चारों ओर से घेर रहे हैं । पिता की पवित्र गोद में शिशु को आपत्तियों का भय ही कहाँ है ? पिता बालक को ऊपर भी उछाल दे तो भी उसे पृथिवी पर गिरने न देगा । उस के प्रेम-पूर्ण हाथ गिरते बालक को रास्ते में ही रोक लेंगे । पिता के हाथों में बालक सब तरह सुरक्षित है । नहीं !

---

*"दैव्य"—पाठ जर्मन विद्वान् बनफ़ी द्वारा प्रकाशित सामवेद के अनुसार दिया गया है । सायण ने यहाँ "दैव्यम्" पढ़ा है और उसे "जनिमानि" का विशेषण माना है ।

इस प्रेम-स्पर्श से उसे प्रति-क्षण नया जीवन मिलता है। यही करामात हमारे रोम-रोम से उठ रहे इस स्तुति-संगीत की है। यह संगीत हमें अनुभव करा रहा है कि हम प्रभु के हैं। सदा उस के अंग-संग हैं। उस की कृपा की भुजाएँ विश्व को घेर रही हैं—नित नये चाव से घेर रही हैं। स्रष्टा के स्नेह का संजीवन-रस अणु-अणु को परस्पर संयुक्त ही नहीं कर रहा, किन्तु उसे क्षण-क्षण में नया जीवन दे रहा है। यह दिव्य क्रिया निरन्तर हो रही है। इस क्रिया में पवित्रता है, सहृदयता है, प्रेम है। क्षण-क्षण में ताज़ा हो रहे इस जीवन की मृत्यु कहाँ ? क्षण-क्षण में धुल रही, मँज रही इस पवित्रता के प्रवाह में मलिनता का लेश-भर भी लेप कहाँ ?

मेरे अंग-अंग से प्रादुर्भूत हो रहे सोम-रस ! तू प्रवाहित हो, प्रवाहित हो। तू वास्तव में संजीवन है। तुझे मौत से क्या डर ? तू अमृत है। मेरे जीवन के क्षण-क्षण में अमरता का रस भर दे। प्रभु-प्रेम का, लोकोपकार का इन में इतना मिठास भर दे कि ये सभी क्षण एक दूसरे से चिपट जायें, चिपक जायें। एक की संजीवनी दूसरे में, दूसरे की तीसरे में संचार करती जाय, निरन्तर संचार करती जाय। दिन दिन को, मास मास को, वर्ष वर्ष को, जन्म जन्म को अमर बनाते जायें। हमारे जन्म-जन्मान्तर अमर हो जायें।

विश्व-रोमांच

२१   २र   ३२   ३   १२   ३१२
एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः ।
१ २ ३२२१२
क्रीडन्नूर्मिरपामिव ॥ ७ ॥

ऋषिः—उरुः = विशाल ।

(एषः) यह (स्यः) वह (मदिन्तमः) अत्यन्त नशीला [सोम-रस] (धारया सुतः) धारा के रूप में प्रकट हो कर (अपाम् ऊर्मिः इव) पानी की तरंग की तरह (क्रीडन्) खेलता हुआ (अव्याः वारेभिः) भावना-पूर्ण रोमांच के द्वारा (पवते) पवित्रता ला रहा है ।

मैं क्या मस्त हुआ कि मुझे सारा संसार मस्त नज़र आने लगा । पृथिवी मस्त है , आकाश मस्त है । हवा मस्त है, पानी मस्त है । सूर्य मस्ती से ही उदय होता है, मस्ती में चमकता और मस्ती ही में अस्त हो जाता है । रात के समय चाँद तारों की मस्त किरणें दसों दिशाओं को मस्ती के रंग में रँग देती हैं । पक्षी मस्ती से गा रहे हैं । कोकिल की कू-कू में मस्ती है । चिड़िया की चूँ-चूँ में मस्ती है । हरिण मस्ती से कल्लोल कर रहे हैं, गायें अपनी जुगाली में मस्त हैं । मैं समझा था—मेरे अंदर मस्ती है । मैं ने कहा—"यह" मस्ताना रस । विश्व में "यह" गूँज उठा । मैं ने कहा—अशुद्ध है । दूरवर्त्ती के लिए "वह" होना चाहिये । मेरे अंदर से आवाज़ आई—"वह" । मैं ने चकित होकर अपने आप को पूरे ध्यान से देखा—क्या मैं "वह" हो

गया हूँ ? मैं अपने आपे में नहीं था। मुझे सारा संसार "यह" दीखने लगा और अपना आप "वह"। "वह" पराया था। मैं उस से घबराया, डरा। मैं ने कहा—जा, मुझे "मैं" चाहिए। "वह" "मैं" बन गया। उस ने कहा— "मैं" स्वार्थ हूँ। संकुचित स्वार्थ पराई वस्तु है। आत्मा का विशाल स्वरूप विस्तृत "मैं" है। "वह" और "यह" उस "मैं" के पर्याय हैं।

व्यक्ति कोई भी अपने आप में पूरा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का दूसरे सभी व्यक्तियों से सम्बन्ध है। सच तो यह है कि व्यक्ति का जीवन समष्टि के जीवन का ही एक अंग है। जीवन-धारा व्यक्ति को समष्टि से मिला रही है। मैं विश्व पर निर्भर हूँ और विश्व मुझ पर। आँख शरीर पर निर्भर है और शरीर आँख पर। अंग और अंगी का यह सम्बन्ध दिव्य है। यही उन में अभेद पैदा कर रहा है। जीवन की तरंग सभी बिन्दुओं में खेल रही है। स्वयं खेल रही है और उन्हें खिला रही है। तरंग बिन्दु हैं और बिन्दु तरंग। रमण तरंग में है—एकता की तरंग में।

एकता की भावना व्यक्ति को समष्टि से मिला देती है। प्रेम का प्रवाह हृदय से उठता है और अंग-अंग में छा जाता है। स्नेह कहता है:—

इस तन में किस भाँति समाऊँ ?
तड़प ! तेज़ हो, व्योम-विहारी बादल बन उड़ जाऊँ।
लोक-लोक में घूम-घूम कर बरसूँ, सुख बरसाऊँ ॥

इस तन में किस भाँति समाऊँ ?
बन तरंग लिपटूँ सागर से, लाड-चाव सुख पाऊँ।
उछलूँ कूदूँ मचलूँ नाचूँ, सीकर-रास रचाऊँ ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ ?
दिन-भर रवि-किरणों में रल-मिल चमकूँ जग चमकाऊँ।
रात पाँति में तारागण की बैठ ज्योति झलकाऊँ ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ ?
पवन-पक्ष पहरूँ पक्षी बन उड़-उड़ गगन गुँजाऊँ।
प्रणव-प्रीति का शिखर-शिखर पर शंकर नाद बजाऊँ ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ ?

इस पुण्य भावना का प्रवाह रोमांच का रूप धारण कर व्यक्ति को समष्टि से जोड़ देता है। एक बिजली-सी सम्पूर्ण पिंड में दौड़ जाती है। रोमांच जैसे बिजली का वाहक था। भावना प्रसुप्त थी, जग गई। चिति अप्रकट थी, प्रकट हो गई। वेद इस चिति को "अवि" कहता है। यही चिति पिंड की तथा ब्रह्माण्ड की रक्षिका है। सोई हुई बिजली की तरह यह "अवि" सम्पूर्ण विश्व पर व्याप्त हो रही है। ज्यों ही यह इस पिंड में जागी, पिंड और ब्रह्माण्ड एक हो गये। मेरा सूखा शरीर लहलहा उठा। रोम-रोम में संजीवनी का संचार हुआ। एक मुझी में क्या ? सारे संसार में रोमांच है। सारे संसार में सोम का सवन है। सारा संसार इस संजीवनी की पवित्र धारा में ओत-प्रोत है। पवित्रता खेल रही है। उछल रही है, कूद रही है। दिशा-दिशा में नाच रही है।

ब्रह्मवर्म ममान्तरम्

२ १२ ३ २ ३ २ २ १ २र३ १ २र ३ १ २
य उस्रिया अपि या अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा ।
१ २ ३१ ३ २ ३ २ ३ १ २ २१ २
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवारुज ॥८॥

ऋषिः—ऋजिश्वा = सरल गति करने वाला ।

(याः उस्रियाः) जो किरणें (अश्मनि अन्तः) बादल की ओट में छिपी हुई थीं, (यः) जिस [इन्द्र] ने (गाः अपि) उन गायों को भी (ओजसा) अपने बल से, (निर्-अकृन्तत्) बादलों को छिन्न-भिन्न कर,मुक्त कर दिया, वह तू (गव्यम् अश्व्यं व्रजम्) गायों और घोड़ों की इस शाला को (अभि-तत्निषे) चारों ओर से घेरे खड़ा है, (धृष्णो) ऐ राक्षसों को दबा देने वाले ! (वर्मी इव) कवच पहने योद्धा की तरह (आ-रुज) इन राक्षसों की सेनाओं का नाश कर ।

ऐ मेरे शरीर ! तू घुड़साल भी है, गोशाला भी । तुझ पर सवार हो कर युद्ध भी लड़े जाते हैं और तेरी परोपकार की शक्तियों से दूध की गंगा भी बहाई जाती है। वास्तव में तू यज्ञ-शाला है । जहाँ राक्षस इस यज्ञ का विध्वंस करने पर उतारू हो जाते हैं, मेरा राम उठता है और कवच पहन क़र इन राक्षसों का जान-लेवा हो जाता है । यों तो यज्ञ है ही अध्वर—दूध की गंगा । तेरी शक्तियाँ शान्ति के समय

दुधेल गायें हैं और युद्ध के समय चमकते घोड़े। मेरा राम युद्ध के समय योद्धा है और शान्ति के समय राजा।

मेरा राम इन्द्र है—चमकता हुआ सूर्य। वृत्र से इस की जन्म-जन्मान्तर की लड़ाई चली आती है। वृत्र ने बादल बन इस की किरण-रूपी गायें रोक रखी थीं। सूर्य ग्रहण में आ गया था। उसे राहु ने ग्रस लिया था। वृत्र के साथ सूर्य का युद्ध देखने योग्य था। किरणें काँप रही थीं। इन्द्र अपना एड़ी चोटी का बल लगा रहा था। जय इन्द्र ही की हुई। अन्धकार हट गया। गायें छूट गईं। संसार में ज्योति के रूप में दूध की धारें बह निकलीं। मेरा राम यजमान भी है, यजमानों का रक्षक भी। यजमानों की रक्षा भी तो यज्ञ ही है।

अब उस की गायें और घोड़े सब स्वतन्त्र हैं। संपूर्ण विश्व में उन की अव्याहत गति है। राम उन के बाड़े का पहरा भी देता है और उन्हें संसार की कुश-स्थली की हरी-हरी घास में चरा भी आता है। उस के घोड़े अश्वमेध के घोड़े हैं। उस की गायें यज्ञ की गायें हैं। ब्रह्म-कवच पहिने वह उन के साथ-साथ फिरता है, उन की रक्षा करता है।

मेरे राम ने दिग्विजयें कर लीं। उस का यज्ञ बिना बाधा के निरन्तर चल रहा है। अब क्या वह कवच को उतार दे? नहीं! नहीं!! कदापि नहीं!!!

मेरे राम! यह कवच नहीं उतारना। कदापि नहीं उतारना। तेरे यज्ञ के समीप आज राक्षस नहीं आते। यह

इस कवच ही की करामात है। आज इस यज्ञ-शाला के अंदर बाहर शान्ति है। किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता। स्तुति-संगीत चल रहा है। सोम का सवन निरन्तर हो रहा है। यज्ञ के अनुष्टान में कोई विघ्न नहीं, बाधा नहीं। यह सब इस ब्रह्म-कवच की करामात है। मेरे राम! यह ब्रह्म-कवच न उतारियो, न उतारियो। तू अमर पद को प्राप्त हो गया तो क्या? वीर सभी अमर होते हैं। तू ब्रह्म का वीर सैनिक बना रह, बना रह। जिस वीरता के कारण अमर पद पाया है, वह क्या अब त्याग देने की चीज़ हो गई? मेरे राम! वीरता ही वास्तविक अमरता है। इसे नहीं खोना, नहीं खोना, नहीं खोना।

अनुक्रमणिका

मन्त्रों तथा मन्त्रांशों की